सन्मतिप्रकाशन नं० १०

आत्ममीमांसा

दलसुख मालवणिया
जैनदर्शनाध्यापक
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

जैन संस्कृति संशोधन मंडल
बनारस—५

प्रकाशक
दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
P. O. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५

दो रुपया
१९५२

मुद्रक—
रामकृष्णदास
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

परिचय

जैसे गीता में कृष्णार्जुन संवाद है वैसे गणधरवाद मे भगवान् महावीर और इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वानो के बीच हुई तत्त्वचर्चा को सकलित किया गया है। चर्चा का विषय है जीवादि तत्त्व। श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने वह चर्चा दार्शनिक तथा तार्किक शैली से पल्लवित की है। मूल ग्रन्थ प्राकृत मे और टीका संस्कृत मे है, जो तज्ज्ञ खास विद्वानो के लिये ही सुगम है।

गणधरवाद की प्रतिष्ठा ऐसी है कि धर्मजिज्ञासु, तत्त्वजिज्ञासु और श्रद्धालु सभी जैन उसको सुनने के लिये, कम से कम पजुसन मे, तत्पर रहते है। परतु प्राकृत और सस्कृत भापा के कारण तथा विषयनिरूपण की सूक्ष्मता एव तार्किकता के कारण सामान्य जन समूह के लिय इस ग्रन्थ को समझना आसान नही। इसलिये सभी जिज्ञासुओ का मार्ग सरल करने की दृष्टि से उस ग्रन्थ का गुजराती भाषान्तर, गुजरात की अेक ख्यातनामा सस्था गुजरात विद्यासभा के अन्तर्गत श्री भो० जे० विद्याभवन—अहमदाबाद—ने इसी वर्ष प्रसिद्ध किया है। इसके भाषान्तरकार है प० श्री दलसुख मालवणिया। यह भाषान्तर इतना सरल, प्रवाहवद्ध और हृदयगम है कि मूल और टीका को पढने वाला भी उसे पढने के लिये लालायित हो जाय और पढ लेने पर वड़ा आह्लाद अनुभव करे।

इस ग्रन्थ के भाषान्तर की इस विशेषता के अतिरिक्त इस भाषान्तर ग्रन्थ की खास और मौलिक कही जा सके ऐसी विशेषता है उसकी विस्तृत एव अभ्यासपूर्ण प्रस्तावना। इस प्रस्तावना मे पं० मालवणिया ने ग्रथ, ग्रथकार के इतिहास आदि के अलावा आत्मा, कर्म और परलोक जैसे

परोक्ष विपयो का तात्त्विक निरूपण बड़े अनोखे ढग से किया है। इसमे गणधरवाद मे चर्चित जीवादि तत्त्वो के विचार का भारतीय दर्शनों में क्या स्थान है इसका ऐतिहासिक व तुलनात्मक दृष्टि से जो गहरा निरूपण किया गया है वह खास द्रष्टव्य है।

यो तो यह सारा ही ग्रन्थ राष्ट्र भाषा मे अनूदित करने योग्य है, किन्तु फिलहाल जैनसंस्कृति सशोधन मंडल उतना अधिक खर्च कर सके ऐसा न होने से, तत्त्व जिज्ञासुओं की जिज्ञासा पूर्ण करने के हेतु से प्रस्तावना में से उस तात्त्विक अंश का भाषान्तर इस पुस्तिका के रूप मे प्रकट करना ही उचित व पर्याप्त माना गया है। क्या ही अच्छा हो, कोई उदारचेता व्यक्ति की सहायता से इस सारे ग्रन्थ का हिन्दी भाषान्तर प्रकट किया जा सके।

अभी तो मैं इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि हिन्दी के जो पाठक गुजराती को पूरे या अधूरे रूप में भी समझ पाते हो वे इस भाषान्तर को तत्काल मंगवा कर अवश्य पढ़े।

इस अनुवाद की अनुमति प्रदान करने के लिये मडल भो० जे० विद्याभवन की कमेटी का वहुत अभारी है और हिन्दी अनुवाद के लिए श्री पृथ्वीराज M. A. का आभारी है।

सुखलाल

अध्यक्ष

जैन सस्कृति संशोधन मंडल

वनारस

सरितकुंज, अहमदावाद—९

ता० १३–९–५३

विषय सूची

—:o:—

१--आत्म-विचारणा

प्रास्ताविक

समस्त भारतीय दर्शनों का उत्थान और विकास एक आत्म-तत्त्व को केन्द्र में रख कर ही हुआ है—ऐसा विधान संभव है। नास्तिक चार्वाक दर्शन के उपलब्ध सूत्रों का अनुशीलन भी इसमें बाधक नहीं। क्यों कि उनमें स्पष्ट रूप से चैतन्य का निषेध करना अभिप्रेत नहीं किन्तु चैतन्य के स्वरूप के विषय में विवाद उपस्थित किया गया है। चार्वाक को अनात्मवादी जो कहा जाता है उस का अर्थ इतना ही है कि वह आत्मा को मौलिक तत्त्व नहीं मानता। वह उस तत्त्व की उपपत्ति इतर दार्शनिकों से भिन्न रूप से करता है। इस दृष्टि से सोचा जाय तो भारतीय दर्शन के जिज्ञासु के लिए आत्ममीमांसा को अवगत करना सर्वप्रथम आवश्यक है। इसी ध्येय को समक्ष रखते हुए यहाँ आत्ममीमांसा की आवश्यक बातों का संग्रह संक्षेप में तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है।

अस्तित्व

जब हम किसी भी विषय में विचार करना प्रारंभ करते हैं तब सर्वप्रथम उस के अस्तित्व का प्रश्न विचारणीय होता है; तत्पश्चात् ही उसके स्वरूप का। अतएव यह आवश्यक है कि हम जीव के अस्तित्व के संबंध में भारतीय दर्शनों की विचारणा पर सर्व-प्रथम दृष्टिपात कर लें।

ब्राह्मणों एवं श्रमणों की बढ़ती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण आत्मवाद के विरोधी लोगों का साहित्य सुरक्षित नहीं रह

सका। ब्राह्मणों ने अनात्मवादियों के संबंध में जो भी उल्लेख किए हैं वे केवल प्रासंगिक हैं और उनके आधार पर ही वैदिक काल से लेकर उपनिषत्काल तक की उनकी मान्यताओं के विषय में कल्पनाएँ की जा सकती हैं। उसके बाद हम जैन-आगम और बौद्ध-त्रिपिटक के आधार पर यह मालूम कर सकते हैं कि भगवान् महावीर और बुद्ध के समय तक अनात्मवादियों की क्या मान्यताएँ थीं। दार्शनिक टीका ग्रंथों के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक सूत्रों के रचना-काल में अनात्मवादियों ने अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन बृहस्पतिसूत्र में किया, किंतु दुर्भाग्यवश वह मूल ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अनात्म-वादियों से संबंध रखने वाली सामग्री का आधार मुख्यतः विरोधियों का साहित्य ही है। अतः उसका उपयोग करते समय विशेष साव-धानी की आवश्यकता है क्योंकि विरोधियों द्वारा किए गए वर्णन में न्यून या अधिक मात्रा में एकाङ्गीपन की संभावना रहती ही है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नहीं कहते कि 'आत्मा का सर्वथा अभाव है'। किन्तु उनकी मान्यता का सार यह है कि जगत् के मूलभूत एक या अनेक जितने भी तत्त्व हैं, उनमें आत्मा कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं। दूसरे शब्दों में उन के मतानुसार आत्मा मौलिक तत्त्व नहीं है। इसी तथ्य को दृष्टिसन्मुख रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्द्योतकर ने कहा है कि आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्श-निकों में सामान्यतः विवाद ही नहीं है। यदि विवाद है तो उसका संबंध आत्मा के विशेष स्वरूप से है। अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[१]

---

[१] न्यायवार्तिक पृ० ३६६।

जबतक मनुष्य में विचार-शक्ति का समुचित विकास नहीं होता, वह बाह्यदृष्टि बना रहता है। जब तक उसकी दृष्टि बाह्य विषयों तक सीमित रहती है, वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य तत्त्वों को ही मौलिक तत्त्व मानने के लिए उत्सुक रहता है। यही कारण है कि हमें उपनिषदों में ऐसे अनेक विचारक दृष्टिगोचर होते हैं जिन के मत में जल[1] अथवा वायु[2] जैसे इन्द्रिय ग्राह्य भूत विश्व के मूलरूप तत्त्व हैं। उन्होंने आत्मा जैसे किसी पदार्थ को मूल तत्त्वों में स्थान प्रदान नहीं किया, किन्तु इन भौतिक मूलतत्त्वों से ही आत्मा अथवा चैतन्य जैसी वस्तु की सृष्टि को स्वीकृत किया है। इस बात की विशेष संभावना है कि जब बाह्य दृष्टि का त्याग कर मनुष्यने विचार क्षेत्र में पदार्पण किया, तब इन्द्रिय ग्राह्य तत्त्वों को मौलिक तत्त्व न मान कर उसने असत्[3], सत्[4] अथवा आकाश[5] जैसे तत्त्वों को मौलिक तत्त्व के रूप में मान्य किया हो जो बुद्धि-ग्राह्य होने पर भी बाह्य थे। और यह भी संभव है कि उसने इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्वों से ही आत्मा की उपपत्ति की हो।

जब विचारक की दृष्टि बाह्य तत्त्वों से हटकर आत्माभिमुख हुई—अर्थात् जब वह विश्व के मूल को बाहर न देखकर अपने अन्तर में ही ढूंढ़ने लगा तब उसने प्राणतत्त्व को मौलिक मानना शुरु किया[6]। इस प्राण तत्त्व के विचार से ही वह ब्रह्म अथवा आत्माद्वैत तक पहुँच गया।

---

[1] बृहदारण्यक ५. ५. १

[2] छान्दोग्य ४. ३

[3] छान्दोग्य ३. १९. १, तैत्तिरीय २. ७

[4] छान्दोग्य ६. २

[5] छान्दोग्य १. ९. १; ७. १२

[6] छान्दोग्य १. ११. ५; ४. ३ ३; ३. १५. ४.

आत्मा के लिए प्रयुक्त होने वाले विविध नामों से भी आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति के उपर्युक्त इतिहास का समर्थन होता है। आचारांग सूत्र में जीव के लिए भूत, प्राण जैसे शब्दों का प्रयोग आत्मविचारणा की उत्क्रान्ति का सूचक है।

हमारे पास ऐसे साधन नहीं जिनसे यह ज्ञात हो सके कि इस उत्क्रान्ति में कितना समय लगा होगा। कारण यह है कि उपनिषदों में जिन विविध मतों का उल्लेख है, वे उसी काल में आविर्भूत हुए ऐसा कथन शक्य नहीं। हां, हम यह मान सकते हैं कि इन मतों की परंपरा दीर्घ काल से चली आरही थी और उपनिषदों में उसका संग्रह कर दिया गया।

उपनिषदों के आधार पर हमने यह देखा कि प्राचीन काल के अनात्मवादी जगत् के मूल में केवल किसी एक तत्त्व को ही मानते थे। हम उन्हें अद्वैतवाद की श्रेणी में रख सकते हैं और उनकी मान्यता को 'अनात्माद्वैत' का सार्थक नाम भी दे सकते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार आत्मा को छोड़ कर अन्य कोई भी एक ही पदार्थ विश्व के मूल में विद्यमान है। यह कहा जा चुका है कि अनात्मद्वैत की इस परंपरा से ही क्रमशः आत्माद्वैत की मान्यता का विकास हुआ।

प्राचीन जैन आगम, पालित्रिपिटक और सांख्य दर्शन आदि इस बात के साक्षी हैं कि दार्शनिक विचार की इस अद्वैत धारा के समानान्तर द्वैतधारा भी प्रवाहित थी। जैन बौद्ध और सांख्य दर्शन के मत में विश्व के मूल में केवल एक चेतन अथवा अचेतन तत्त्व नहीं अपितु चेतन एवं अचेतन ऐसे दो तत्त्व हैं। जैनों ने उन्हें जीव और अजीव का नाम दिया, सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति कहा और बौद्धों ने नाम और रूप।

उक्त द्वैत विचार-धारा में चेतन और उसका विरोधी अचेतन इस प्रकार दो तत्त्व माने गए, इसीलिए उसे 'द्वैत परंपरा' का नाम दिया गया है। किंतु वस्तुतः सांख्यों और जैनों के मत में व्यक्ति भेद से चेतन अनेक हैं। वे सब प्रकृति के समान मूलरूप में एक तत्त्व नहीं हैं। जैनों की मान्यतानुसार केवल चेतन ही नहीं, प्रत्युत अचेतन तत्त्व भी अनेक हैं। जड़ और चेतन इन दो तत्त्वों को स्वीकृत करने के कारण न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन भी द्वैत विचार धारा के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं; किंतु उनके मत में भी चेतन एवं अचेतन ये दोनों सांख्य सम्मत प्रकृति के समान एक मौलिक तत्त्व नहीं; परन्तु जैनों द्वारा मान्य चेतन-अचेतन के समान अनेक तत्त्व हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में इस समस्त परंपरा को बहुवादी अथवा नानावादी कहना चाहिए। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि बहुवादी विचारधारा में पूर्वोक्त सभी दर्शन आत्मवादी हैं; किंतु जैन आगम और पालित्रिपिटक इस बात की भी साक्षी प्रदान करते हैं कि इस बहुवादी विचार धारा में अनात्मवादी भी हुए हैं। उनमें ऐसे भूतवादियों का वर्णन उपलब्ध होता है जो विश्व के मूल में चार या पाँच भूतों को मानते थे। [१]उनके मत में चार या पाँच भूतों में से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है, आत्मा जैसा स्वतंत्र मौलिक पदार्थ नहीं। दार्शनिक सूत्रों के टीका ग्रंथों के समय में जहाँ चार्वाक, नास्तिक, बार्हस्पत्य अथवा लोकायत मत का खंडन किया गया है, वहाँ पर भी चार भूत अथवा पांच भूतवाद का ही खंडन है। अतः हम यह कह सकते हैं कि दार्शनिक सूत्रों की व्यवस्था के समय में उपनिषदों के प्राचीन स्तर के अद्वैती अनात्मवादी नहीं थे, मगर उनका स्थान नानाभूतवादियों ने ले लिया था। ये नाना भूतवादी विश्वास रखते थे कि चार

---

[१] सूत्रकृतांग १.१.१.७-८; २. १. १०; ब्रह्मजालसुत्त

अथवा पांच भूतों के एक विशिष्ट समुदाय-संमिश्रण होने पर आत्मा अर्थात् चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा के समान अनादि अनन्त किसी शाश्वत वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि इस भूत समुदाय का नाश होनेपर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

इस प्रकार इन दोनों धाराओं के विषय में विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैतमार्ग में किसी समय अनात्मा की मान्यता मुख्य थी और धीरे धीरे आत्माद्वैत की मान्यता ने दृढ़ता प्राप्त की। दूसरी ओर नानावादियों में भी चार्वाक जैसे दार्शनिक हुए हैं जिनके मत में आत्मसदृश वस्तु का मौलिक तत्त्वों में स्थान नहीं था, जबकि उनके विरोधी जैन, बौद्ध, सांख्य इत्यादि आत्मा एवं अनात्मा दोनों को मौलिक तत्त्वों में स्थान प्रदान करते थे।

आत्मा का स्वरूप—चैतन्य

ऋग्वेद के एक ऋषि के उद्गार से प्रतीत होता है कि उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसकी इस जिज्ञासा में उत्कट वेदना का अनुभव स्पष्ट मालूम होता है। वह ऋषि पुकारकर कहता है, 'यह मैं कौन हूं अथवा कैसा हूं' मुझे इसका पता नहीं चलता[1]। आत्मा के संबंध में ही नहीं, प्रत्युत विश्वात्मा के स्वरूप के विषय में भी ऋग्वेद के ऋषि को जिज्ञासा है। विश्व का वह मूल तत्त्व सत् है अथवा असत् है, इन दोनों में से वह उसे किसी भी नाम से कहने के लिए तैयार नहीं[2]। शायद उसे यह प्रतीत हुआ हो कि यह मूल तत्त्व ऐसा नहीं है जिसे वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सके। ऋग्वेद (१०.९०)

---

[1] न वा जानामि यदिव इदमस्मि—ऋग्वेद १. १६४. ३७

[2] नाऽसदासीत् नो सदासीत् तदानीम्। ऋग्वेद १०. १२९

और यजुर्वेद (अ० ३१) के पुरुषसूक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्त विश्व के मूल में पुरुष की सत्ता है। इस बात का उल्लेख करने की तो आवश्यकता ही नहीं कि यह पुरुष चेतन है। ब्राह्मण काल में प्रजापति ने इसी पुरुष का स्थान ग्रहण किया। इस प्रजापति को सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा माना गया है[१]।

ब्राह्मण काल तक बाह्य जगत् के मूल की खोज का प्रयत्न किया गया है और उसके मूल में पुरुष अथवा प्रजापति की कल्पना की गई है। किन्तु उपनिषदों में विचार की दिशा में परिवर्तन हो गया है। मुख्यतः आत्मविचारणा ने विश्व विचार का स्थान ग्रहण कर लिया है। अतएव आत्म-विचार की क्रमिक प्रगति के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपनिषद् प्राचीन साधन हैं।

उपनिषदों में दृग्गोचर होनेवाली आत्मस्वरूप की विचारणा का और उपनिषदों की रचना का काल एक ही है—यह बात नहीं मानी जा सकती, परन्तु उपनिषद की रचना से भी पूर्व दीर्घ काल से जो विचार-प्रवाह चले आ रहे थे उनका उल्लेख उपनिषदों में सम्मिलित है, यह मानना उचित है। क्योंकि उपनिषद् वेद के अंतिम भाग माने जाते हैं, इस लिये कोई व्यक्ति यह अनुमान भी कर सकता है कि केवल वैदिक परंपरा के ऋषियों ने ही आत्म-विचारणा की है और उसमें किसी अन्य परंपरा की देन नहीं है।

किन्तु उपनिषदों के पूर्व की वैदिक विचार धारा तथा उसके बाद की मानी जाने वाली औपनिषदिक वैदिक विचार धारा की तुलना करने वालों को दोनों में जो मुख्य भेद दिखाई देता है, विद्वानोंने उसके कारण की खोज की है और उन्होंने यह सिद्ध

[१] The Creative Period p. 67, 342.

किया है कि वेद-भिन्न अवैदिक विचार धारा का प्रभाव ही इस भेद का कारण है। इस प्रकार की अवैदिक विचार धारा में जैन परंपरा के पूर्वजों की देन कम महत्त्व नहीं रखती। हम इन पूर्वजों को परिव्राजक श्रमण के रूप में जान सकते हैं।

(१) देहात्मवाद—भूतात्मवाद

आत्म-विचारणा के क्रमिक सोपान का चित्र हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है। उपनिषदों में मुख्यरूपेण इस बात पर विचार किया गया है कि बाह्य विश्व को गौण कर अपने भीतर जिस चैतन्य अर्थात् विज्ञान की स्फूर्ति का अनुभव होता है, वह क्या वस्तु है। अन्य सब जड़ पदार्थों की अपेक्षा अपने समस्त शरीर में ही इस स्फूर्ति का विशेष रूप से अनुभव होता है, अतः यह स्वाभाविक है कि विचारक का मन सर्व प्रथम स्वदेह को ही आत्मा अथवा जीव मानने के लिए आकृष्ट हो। उपनिषद् में इस कथा का उल्लेख है कि असुरों में से वैरोचन और देवों में से इन्द्र आत्म विज्ञान की शिक्षा लेने प्रजापति के पास गए हैं। पानी के पात्र में उन दोनों के प्रतिविम्ब दिखाकर प्रजापति ने पूछा कि तुम्हें क्या दिखाई देता है? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि पानी में नख से लेकर शिखा तक हमारा प्रतिविम्ब दृग्गोचर हो रहा है। प्रजापति ने कहा कि जिसे तुम देख रहे हो, वही आत्मा है। यह सुन कर दोनों चले गए। वैरोचन ने असुरों में इस बात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है[१]। किन्तु इन्द्र का इस बात से समाधान नहीं हुआ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी जहां स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म-तर आत्म-स्वरूपका क्रमशः वर्णन किया गया है, वहां सबसे पहले

---

[१] छान्दोग्य ८.८

अन्नमय आत्मा का परिचय दिया गया है और यह बताया गया है कि अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई है, उसकी वृद्धि भी अन्न से होती है और वह अन्न में ही विलीन होता है। अतः यह पुरुष अन्न-रसमय है[1]। देह को आत्मा मानकर यह विचारणा हुई है।

प्राकृत एवं पालि के ग्रन्थों में इस मन्तव्य को 'तज्जीवतच्छ-रीरवाद' के रूप में प्रतिपादित किया गया है और दार्शनिक सूत्रकाल में इसी का निर्देश 'देहात्मवाद' द्वारा किया गया है।

जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक में इस बात का भी निर्देश है कि इस देहात्मवाद से मिलता जुलता चतुर्भूत अथवा पंचभूत को आत्मा मानने वालों का द्धान्तसि भी प्रचलित था। ऐसा मालूम होता है कि विचारक गण जब देहतत्त्व का विश्लेषण करने लगे होंगे तब किसी ने उसे चार[2] भूतात्मक और किसी ने उसे पांचभूतात्मक[3] माना होगा। ये भूतात्मवादी अथवा देहात्म-वादी अपने पक्ष के समर्थन में जो युक्तियां देते थे, उनमें मुख्य ये थीं:—

जिस प्रकार कोई पुरुप म्यान से तलवार बाहर खींचकर उसे अलग दिखा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकाल कर कोई भी पृथक् रूपेण नहीं बता सकता। अथवा जिस प्रकार तिलों में से तेल निकाल कर बताया जा सकता है, या दही से मक्खन निकाल कर दिखाया जा सकता है, उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक् निकाल कर नहीं बताया जा सकता। जब तक

---

[1] तैत्तिरीय २ १, २,

[2] ब्रह्मजाल सुत्त (हिन्दी) पृ० १२; सूत्रकृतांग

[3] सूत्रकृताग १. १ १. ७.८,

शरीर स्थिर रहता है, तभी तक आत्मा की स्थिरता है, शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है[1]।

बौद्धों के दीघनिकायान्तर्गत पायासी सुत्त में और जैनों के रायपसेणइय सुत्त में उन प्रयोगों का समान रूप से विस्तृत वर्णन है जिन्हें नास्तिक राजा पायासी—पएसी ने 'जीव शरीर से पृथक् नहीं है' इस वात को सिद्ध करने के लिए किये थे। उनसे पता चलता है कि उसने मरने वालों से कहा हुआ था कि तुम मर कर जिस लोक में जाओ, वहाँ से मुझे समाचार वताने के लिए अवश्य आना। किन्तु उनमें से एक भी व्यक्ति उसे मृत्यूपरान्त की स्थिति के विषय में समाचार देने नहीं आया। अतः उसे यह विश्वास हो गया कि मृत्यु के समय ही आत्मा का नाश हो जाता है, शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। 'शरीर ही आत्मा है' इस वात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से राजा ने जीवित मनुष्य को लोहे की पेटी में अथवा हांडी में वन्द करके यह देखने का प्रयत्न किया कि मृत्यु के समय उसका जीव वाहर निकलता है या नहीं। परीक्षण के अन्त में उसने निश्चय किया कि मृत्यु के समय शरीर से कोई जीव बाहर नहीं निकलता। जीवित और मृत व्यक्ति को तोल कर उस ने यह परीक्षा भी की कि यदि मृत्यु के समय जीव चला जाता हो तो वज़न में कमी हो जानी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, प्रत्युत इसके विपरीत उसे यह पता चला कि मृत व्यक्ति का वज़न वढ़ जाता है। मनुष्य के शरीर के टुकड़े टुकड़े कर क्रमशः हड्डियों, माँस आदि में जीव की खोज की, किन्तु वह उनमें भी नहीं मिला। इसके अतिरिक्त राजा यह युक्ति दिया करता था कि यदि शरीर और जीव अलग २ हैं तो क्या कारण है कि एक वालक अनेक वाण नहीं चला सकता और एक युवक

---

[1] सूत्रकृतांग २.१.९; २.१.१०

यह काम कर सकता है। अतः शक्ति आत्मा की नहीं, अपितु शरीर की है और शरीर के नाश के साथ ही उसका नाश हो जाता है।

पायासी राजा की भिन्न भिन्न परीक्षाओं एवं युक्तियों से ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतों के समान ही इन्द्रियों का विषय मानकर आत्मा संबंधी शोध में लीन था; और आत्मा को एक भौतिक तत्त्व मानकर ही उसने तद्विषयक खोज जारी रखी। इसी लिए उसे निराशा का मुख देखना पड़ा। यदि वह आत्मा को एक अमूर्त तत्त्व मानकर उसे ढूढ़ने का प्रयत्न करता तो उसकी शोध की प्रक्रिया और ही होती। रायपसेणइय के वर्णन के अनुसार पएसी का दादा भी उसी की भाँति नास्तिक था। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा को भौतिक समझ कर उसके विषय में विचार करने वाले व्यक्ति अति प्राचीन काल में भी थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषद् से भी होता है। वहां आत्मा को अन्नमय[1] कहा गया है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् से भी प्राचीन ऐतरेय आरण्यक में आत्मा के विकास के प्रदर्शक जो सोपान दिखाये गये हैं, उससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि आत्मविचारणा में आत्मा को भौतिक मानना उसका प्रथम सोपान है। उस आरण्यक[2] में वनस्पति, पशु एवं मनुष्य के चैतन्य के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण किया गया है और यह बताया गया है कि औषधि—वनस्पति और ये जो समस्त पशु एवं मनुष्य हैं, उनमें आत्मा उत्तरोत्तर विकसित होता है। कारण यह है कि औषधि और वनस्पति में तो वह केवल रस रूप में ही दिखाई देता है किन्तु पशुओं में चित्त भी दृष्टिगोचर होता है और

[1] तैत्तिरीय २.१[illegible]

[2] ऐतरेय आरण्यक २.

मनुष्य में वह विकास करते करते तीनों कालों का विचारक बन जाता है।

(२) प्राणात्मवाद—इन्द्रियात्मवाद

उपनिषदों में उपलब्ध वैरोचन और इन्द्र की कथा का एक अंश देहात्मवाद की चर्चा में लिखा जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि इन्द्र को प्रजापति के इस स्पष्टीकरण से सन्तोष नहीं हुआ कि देह ही आत्मा है। अतः हम यह मान सकते हैं कि उस युग में केवल इन्द्र ही नहीं अपितु उस जैसे कई विचारकों के मन में इस प्रश्न के विषय में उलझन हुई होगी और उनकी उस उलझन ने ही आत्मतत्त्व के विषय में अधिक विचार करने के लिये उन्हें प्रेरित किया होगा। चिन्तनशील व्यक्तियों ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओं का निरीक्षण-परीक्षण प्रारंभ किया होगा, तब सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ हो, यह स्वाभाविक है। उन्होंने अनुभव किया होगा कि निद्रा की अवस्था में जब समस्त इन्द्रियाँ अपनी अपनी प्रवृत्ति स्थगित कर देती हैं, तब भी श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् इस श्वासोच्छ्वास के दर्शन नहीं होते। इस बात से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन में प्राण का ही सर्वाधिक महत्त्व है। अतः उन्होंने इस प्राण तत्त्व को ही जीवन की समस्त क्रियाओं का कारण माना[1]। जिस समय विचारकों ने शरीर में स्फुरित होने वाले तत्त्व की प्राणरूप से पहिचान की, उस समय उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया और उस विषय में अधिक से अधिक विचार होने लगा। परिणाम स्वरूप प्राण के संबंध में छान्दोग्य[2] उपनिषद्

---

[1] तैत्तिरीय २.२,३. कौषीतकी ३ २.

[2] छान्दोग्य ३. १५. ४

में कहा गया कि इस विश्व में जो कुछ है वह प्राण है। बृहदारण्यक[१] में तो उसे देवों के भी देव का पद प्रदान किया गया।

प्राण अर्थात् वायु को आत्मा मानने वालों का खंडन नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न[२] में किया है।

शरीर में होने वाली क्रियाओं के जो भी साधन हैं, उन में इन्द्रियों का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः यह स्वाभाविक है कि विचारकों का ध्यान उस ओर प्रवृत्त हो और वे इन्द्रियों को ही आत्मा मानने लगें। बृहदारण्यक उपनिषद् में इन्द्रियों की प्रतियोगिता का उल्लेख है और उनके इस दृढ़ निर्णय का भी वर्णन है कि वे स्वयं ही समर्थ हैं[३]। अतः हम यह भी मान सकते हैं कि कुछ लोगों की प्रवृत्ति इन्द्रियों को आत्मा समझने की रही होगी। दार्शनिक सूत्र-टीकाकाल में इस प्रकार के इन्द्रियात्मवादियों का खंडन भी किया गया है, अतः यह निश्चित है कि किसी किसी व्यक्ति ने इस सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार किया होगा। प्राणात्मवाद के समर्थकों ने इस इन्द्रियात्मवाद के विरुद्ध जो युक्तियाँ दीं, वे हमें बृहदारण्यक में दृष्टिगोचर होती हैं। उनमें कहा गया है कि मृत्यु समस्त इन्द्रियों को थका देती है किंतु उनके बीच रहने वाले प्राण को वह कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकती, अतः इन्द्रियों ने प्राण के रूप को ग्रहण किया, इसीलिए इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं[४]।

प्राचीन जैन आगमों में जिन दस प्राणों का वर्णन है, उनमें इन्द्रियों को भी प्राण गिना गया है। इससे भी उपर्युक्त बात का

---

[१] बृहदारण्यक १.५.२२-२३

[२] मिलिन्द प्रश्न २.१०

[३] बृहदारण्यक १.५.२१

[४] बृहदारण्यक १.५.२१

समर्थन होता है। इस प्रकार इन्द्रियात्मवाद का समावेश प्राणात्मवाद में हो जाता है।

सांख्य-संमत वैकृतिक बंध की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों को पुरुष मानने वालों का उल्लेख किया है। वह भी इन्द्रियात्मवादियों के विषय में समझा जाना चाहिए[1]।

इस प्रकार आत्मा को देहरूप माना जाए अथवा भूतात्मक, प्राणरूप माना जाए अथवा इन्द्रियरूप, इन सब मतों में आत्मा अपने भौतिक रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होती है। इन से उसका अभौतिक रूप प्रगट नहीं होता। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि इन सब मतों के अनुसार हमें आत्मा अपने व्यक्तरूप में दृष्टिगोचर होती है। वह इन्द्रिय ग्राह्य है, यह बात समान्यतः इन सब मतों में मानी गयी है। आत्मा के इस रूप को सन्मुख रखते हुए ही उसका विश्लेषण किया गया है। इसीलिए उसके अव्यक्त अथवा अभौतिक स्वरूप की ओर इन में से किसी का ध्यान नहीं गया।

परन्तु ऋषियों ने जिस प्रकार विश्व के भौतिक रूप के पार जाकर एक अव्यक्त तत्त्व को माना, [2]उसी प्रकार उन्होंने आत्मा के विषय में यह स्वीकार किया कि वह भी अपने पूर्ण रूप में ऐसा नहीं जिसे आँखों द्वारा देखा जा सके। जब से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई, तब से आत्म-विचारणा ने नया रूप धारण किया।

जब तक आत्मा का भौतिक रूप ही स्वीकार किया जाए तब तक इस लोक को छोड़कर उसके परलोक गमन की मान्यता, अथवा परलोक गमन में कारणभूत कर्म की मान्यता या पुण्य पाप की

---

[1] सांख्यका० ४४

[2] ऋग्वेद १०.१२९

मान्यता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। किन्तु जब आत्मा को एक स्थायी तत्त्व के रूप में मान लिया जाए, तब इन सब प्रश्नों पर विचार करने का अवसर स्वयमेव उपस्थित हो जाता है। अतः आत्मवाद के साथ संबद्ध परलोक और कर्मवाद का विचार इसके बाद ही होना आरंभ हुआ।

(३) मनोमय आत्मा

विचारकों ने अनुभव किया कि प्राणरूप कही जाने वाली इन्द्रियां भी मनके बिना सार्थक नहीं हैं, मन का संपर्क होने पर ही इन्द्रियां अपने विषयों का ग्रहण कर सकती हैं, अन्यथा नहीं; और फिर विचारणा के विषय में तो इन्द्रियां कुछ भी नहीं कर सकतीं। इन्द्रिय-व्यापार के अभाव में भी विचारणा का क्रम चलता रहता है। सुप्त मनुष्य की इन्द्रियां कुछ व्यापार नहीं करतीं, उस समय मन कहीं का कहीं पहुँच जाता है। अतः संभव है कि उन्होंने इन्द्रियों से आगे बढ़कर मन को आत्मा मानना शुरू कर दिया हो। जिस प्रकार उपनिषत् काल में प्राणमय आत्मा को अन्नमय आत्मा का अन्तरात्मा माना गया, उसी प्रकार मनोमय आत्मा को प्राणमय आत्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया गया। इससे पता चलता है कि विचार-प्रगति के इतिहास में प्राणमय आत्मा के पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई होगी।[1]

प्राण और इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, किन्तु मन भौतिक है या अभौतिक, इस विषय में दार्शनिकों का मत एक नहीं[2]। किन्तु यह बात निश्चित है कि प्राचीन काल में मन को अभौतिक भी

---

[1] तैत्तिरीय २. ३,

[2] मन के विषय मे दार्शनिक मतभेद का विवरण 'प्रमाण मीमासा' की टिप्पणी पृ० ४२ पर देखें।

माना जाता था। इसी लिए न्यायवैशेषिक[1] आदि दार्शनिकों ने मन को अणुरूप मान कर भी पृथ्वी आदि भूतों के सभी परमाणुओं से उसे विलक्षण माना है। इसके अतिरिक्त सांख्य मत में भी यह माना गया है कि भूतों की उत्पत्ति होने से पूर्व ही प्राकृतिक अहंकार से मन की उत्पत्ति हो जाती है। इससे भी यह संकेत मिलता है कि मन भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म है। पुनश्च वैभाषिक बौद्धों ने मन को विज्ञान का समनन्तर कारण माना है, अतः मन विज्ञान रूप है।[2] इस प्रकार प्राचीन काल में मन को अभौतिक मानने की एक प्रवृत्ति स्पष्ट दृग्गोचर होती है। अतः हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस विचारक ने आत्मविचारणा के विषय में प्राण को छोड़कर मन को आत्मा मानने की सर्वप्रथम कल्पना की होगी, उसने ही सबसे पहले आत्मा को भौतिक श्रेणी से निकाल कर अभौतिक श्रेणी में रखा होगा।

दार्शनिक सूत्र ग्रंथों और उनकी टीकाओं से ज्ञात होता है कि मन को आत्मा मानने वाले दार्शनिक सूत्रकाल में भी विद्यमान थे।[3] मन को आत्मा मानने वालों का कथन था कि जिन हेतुओं द्वारा आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है, उनसे वह मनोमय सिद्ध होती है। मन सर्वग्राही है। अतः वह ऐसा प्रतिसंधान कर सकता है कि एक इन्द्रिय द्वारा देखा गया और दूसरी इन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया गया विषय एक ही है। अतः मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए, मन से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं।

सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषत् के

---

[1] न्यायसूत्र ३. २. ६१, वैशेषिकसूत्र ७. १. २३

[2] षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः—अभिधर्मकोष १. १७

[3] न्यायसूत्र ३. १. १६ न्यायवार्तिक पृ० ३३६

'अन्योन्तरात्मा मनोमयः' (२. ३) वाक्य के आधार पर चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। सांख्यों द्वारा मान्य विकृत के उपासकों में मन को आत्मा मानने वालों का समावेश है[1]।

'मन क्या है' इस विषय में बृहदारण्यक में अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उसमें बताया गया है कि 'मेरा मन दूसरी ओर था अतः मैं देख नहीं सका' 'मेरा मन दूसरी ओर था अतः मै सुन नहीं सका'–अर्थात् वस्तुतः देखा जाए तो मनुष्य मनके द्वारा देखता है और उसके द्वारा ही सुनता है। काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय–यह सब मन ही है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य की पीठ का स्पर्श करता है, तो वह मनुष्य मन से इस बात का ज्ञान कर लेता है।[2] पुनश्च वहां मन को परम ब्रह्म सम्राट्[3] भी कहा गया है। छान्दोग्य में भी उसे ब्रह्म[4] कहा है।

मन के कारण जो भी विश्व-प्रपंच है, उसका निरूपण तेजोविन्दु उपनिषद् में किया गया है। उससे भी मन की महिमा का परिचय मिलता है। उसमें बताया गया है कि 'मन ही समस्त जगत् है, मन ही महान् शत्रु है, मन संसार है, मन ही त्रिलोक है, मन ही महान् दुःख है, मन ही काल है, मन ही संकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहंकार है, मन ही अन्तः-करण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही अग्नि है, मन ही महान् वायु है, मन ही आकाश है, मन ही शब्द है, स्पर्श

---

[1] सांख्यकारिका ४४

[2] बृहदारण्यक १. ५. ३.

[3] बृहदारण्यक ४. १. ६।

[4] छान्दोग्य ७. ३. १

रूप रस गंध और पांच कोष मन से उत्पन्न हुए हैं, जागरण स्वप्न सुषुप्ति इत्यादि मनोमय हैं, दिक्पाल, वसु, रुद्र, आदित्य भी मनोमय हैं।[1]

(४) प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा

कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण संज्ञा दी गई है। उससे विदित होता है कि प्राणात्मा के बाद जब प्रज्ञात्मा का अन्वेषण हुआ, तब प्राचीन और नवीन का समन्वय आवश्यक था[2]। 'इन्द्रियां और मन ये दोनों प्रज्ञा के बिना सर्वथा अकिंचित्कर हैं' यह बात कह कर कौषीतकी[3] में बताया गया है कि प्रज्ञा का महत्त्व इन्द्रियों और मन की अपेक्षा भी अधिक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रज्ञात्मा मनोमय आत्मा की भी अन्तरात्मा है। इसी बात का संकेत तैत्तिरीय उपनिषद् में (२. ४) विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा बता कर किया गया है। अतः प्रज्ञा और विज्ञान को पर्यायवाची स्वीकार करने में कोई हानि नहीं। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान ब्रह्म के जो पर्याय दिए गए हैं, उनमें मन भी है।[4] इससे ज्ञात होता है कि पूर्वकल्पित मनोमय आत्मा के साथ प्रज्ञानात्मा का समन्वय है। उसी उपनिषद् में प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक ही माना[5] है। और प्रज्ञान के पर्याय के रूप में विज्ञान भी लिखा है[6]।

---

[1] तेजोबिन्दु उपनिषद् ५. ९८, १०४;

[2] 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कौषीतकी ३. २; ३. ३; यो वै प्राण. सा प्रज्ञा। या वा प्रज्ञा स प्राण.—कौषी ३. ३; ३. ४

[3] कौषी, ३. ६. ७. गुजराती अनुवाद—पृ० ८९२

[4] ऐतरेय ३. २.

[5] ऐतरेय ३. ३.

[6] ऐतरेय ३. २.

सारांश यह है कि विज्ञान, प्रज्ञा, प्रज्ञान ये समस्त शब्द एकार्थक माने गए और उसी अर्थ के अनुसार आत्मा को विज्ञानात्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा स्वीकार किया गया। मनोमय आत्मा सूक्ष्म है, किन्तु मन किसी के मतानुसार भौतिक और किसी के मतानुसार अभौतिक है। किन्तु जब विज्ञान को आत्मा की संज्ञा प्रदान की गई, तब उसके बाद ही इस विचारणा को बल मिला कि आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है। आत्मविचारणा के क्षेत्र में विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान को आत्मा कह कर विचारकों ने आत्मविचार की दिशा में ही परिवर्तन कर दिया। अब उन्हों ने इस मान्यता की ओर अग्रसर होना प्रारंभ किया कि आत्मा मौलिक रूपेण चेतन तत्त्व है। प्रज्ञान की प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढ़ी कि आंतरिक और बाह्य सभी पदार्थों को प्रज्ञान का नाम दिया गया।[1]

अब प्रज्ञा तत्त्व का विश्लेषण अनिवार्य था, अतः उसके विषय में विचार प्रारंभ हुआ। समस्त इन्द्रियों और मन को प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित माना गया। जिस समय मनुष्य सुप्त अथवा मृतावस्था में होता है, उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं, अतः किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। जब मनुष्य नींद से जागता है या पुनः जन्म ग्रहण करता है, तब जिस प्रकार चिंगारी में से अग्नि प्रगट होती है उसी प्रकार प्रज्ञा में से इन्द्रियां पुनः बाहर आती हैं[2] और मनुष्य को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियां प्रज्ञा के एक अंश के समान[3] हैं, इसलिए वे प्रज्ञा के बिना अपना काम करने में असमर्थ[4] हैं। अतः इन्द्रियों और

---

[1] ऐतरेय ३.१.२-३।

[2] कौषीतकी ३.२

[3] कौषीतकी ३ ५

[4] कौषीतकी ३.७

मन से भी भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए यह कहा गया। इस बात की भी प्रेरणा की गई है कि इन्द्रियों के विषयों का नहीं परन्तु इन्द्रियों के विषयों के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाए। मन का ज्ञान आवश्यक नहीं किंतु मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कौपीतकी उपनिषद् में इस बात पर जोर दिया गया है कि इन्द्रियादि साधनों से भी पर प्रज्ञात्मा[1]—साधक को जानना चाहिए।

कौपीतकी उपनिषत् के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस उपनिषद् में प्रज्ञा को इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है। किन्तु अभी प्रज्ञा के स्वतः प्रकाशित रूप की ओर विचारकों का ध्यान गया नहीं था। अतः सुप्तावस्था में इन्द्रियों के व्यापार के अभाव में स्व या पर का किसी भी प्रकार का ज्ञान स्वीकृत नहीं किया गया।[2] उसी प्रकार मृत्यूपरान्त जब तक नई इन्द्रियों का निर्माण नहीं होता, तब तक प्रज्ञा भी अकिंचित्कर ही रहती है—एसा माना गया। इन्द्रियां प्रज्ञा के अधीन हैं, इस बात को मान कर भी यह स्वीकार किया गया है कि प्रज्ञा भी इन्द्रियों के बिना कुछ नहीं कर सकती। चूंकि अभी प्रज्ञा और प्राण को एक ही समझा जाता था, अतः प्राण से भी पर स्वतः प्रकाशक प्रज्ञा का स्वरूप किसी के ध्यान में न आए, यह स्वाभाविक है।

---

[1] कौपीतकी ३ ८

[2] ऐसे आत्मा के ज्ञान से इन्द्र को संतोष नही हुआ था, और उसने प्रजापति से सुप्तावस्था के आत्मा से भी पर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया था, यह उल्लेख छान्दोग्य मे है—८. ११, इस विषय में वृहदा० १. १५—२० भी देखने योग्य है।

कठोपनिषद्[1] में जहां उत्तरोत्तर उच्चतर तत्त्वों की गणना की गई है वहां मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त—प्रकृति, और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्चतर माना गया है। यही बात गीता में भी कही गई है। यह प्रक्रिया सांख्य सम्मत है। इस मान्यता से ज्ञात होता है कि प्राचीन मत यह था कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं, अपितु अचेतन प्रकृति का धर्म है। इस मत की उपस्थिति में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि विज्ञानात्मा की शोध पूरी हो जाने पर आत्मा सर्वतः चेतनस्वरूप किंवा अजड़रूप सिद्ध हो गया। किन्तु जब विचारक प्रज्ञात्मा की सीमा तक उड़ान कर चुके, तब उनका भावी मार्ग स्पष्ट था। अतएव अब ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि आत्मा से भौतिक गंध को सर्वथा निर्मूल करने में विलम्ब हो।

(५) आनन्दात्मा

यदि मनुष्य के अनुभव का विश्लेषण किया जाए, तो उस अनुभव के दो रूप स्पष्ट दृग्गोचर होते हैं; पहला तो पदार्थ की विज्ञप्ति संबंधी है अर्थात् हमें पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह अनुभव का एक रूप है, और दूसरा रूप वेदन संबंधी है। एक को हम संवेदन कह सकते हैं और दूसरे को वेदना। पदार्थ को जानना एक रूप है और उसका भोग करना दूसरा। ज्ञान का संबंध जानने से है और वेदना का भोग से। ज्ञान का स्थान पहला है और भोग का दूसरा। वह वेदना भी अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रतिकूल वेदना किसी के लिए भी रुचिकर नहीं होती, परन्तु अनुकूल वेदना सबको इष्ट है। इसी का दूसरा नाम सुख है और सुख की पराकाष्ठा को

---

[1] कठो० १. ३. १०-११.

आनन्द की संज्ञा दी गई है। बाह्य पदार्थों के भोग से सर्वथा निरपेक्ष अनुकूल वेदना आत्मा का स्वरूप है और विचारक पुरुषों ने उसे ही आनन्दात्मा कहा है। इस बात की अधिक संभावना है कि अनुभव के संवेदन रूप को प्रधान मानकर प्रज्ञात्मा अथवा विज्ञानात्मा की कल्पना ने जन्म लिया तो उसके वेदना रूप की प्राधान्यता से आनन्दात्मा की कल्पना को बल मिला। यह स्वाभाविक है कि जब आत्मा जैसे एक अखंड पदार्थ को खण्ड खण्ड कर देखा जाए तो विचारकों के समक्ष उसके विज्ञानात्मा, आनन्दात्मा जैसे रूप उपस्थित हो जाते हैं।

विज्ञान का लक्ष्य भी आनन्द ही है, अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विचारकों ने आनन्दात्मा को विज्ञानात्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया[1]। पुनश्च मनुष्य में दो भावनाएँ हैं— दार्शनिक और धार्मिक। दार्शनिक विज्ञानात्मा को मुख्य मानते हैं। किन्तु दार्शनिकों के अन्तर में ही स्थित धार्मिक आत्मा आनन्दात्मा की कल्पना कर संतोष का अनुभव करे, तो यह कोई नई बात नहीं[2]।

(६) पुरुष, चेतन आत्मा–चिदात्मा–ब्रह्म

विचारकों ने आत्मा के विषय में अन्नमय आत्मा से लेकर आनन्दात्मा पर्यन्त प्रगति की, किन्तु उनकी यह प्रगति अभी तक आत्म-तत्त्व के भिन्न-भिन्न आवरणों को आत्मा समझ कर ही हो रही थी। इन सब आत्माओं की भी जो मूलरूप आत्मा थी, उसका अन्वेषण अभी बाकी था। जब उस आत्मा की शोध

---

[1] तैत्तिरीय २-५।

[2] Nature of Consciousness in Hindu Philosophy p. 29.

होने लगी, तब यह कहा जाने लगा कि अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है[१]। आत्मा से रहित शरीर कुछ भी करने में असमर्थ है। शरीर की संचालक शक्ति ही आत्मा है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट कर दी गई कि शरीर और आत्मा ये दोनों तत्त्व पृथक् हैं। आत्म से स्वतंत्र होकर प्राण कुछ भी क्रिया नहीं करता। आत्मा प्राण की भी प्राण[२] है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। मनुष्य की छाया का आधार स्वयं मनुष्य है, उसी प्रकार प्राण आत्मा पर अवलम्बित[३] है। इस प्रकार प्राण और आत्मा का भेद सामने आया।

केनोपनिषद्[४] में यह सूचित किया गया है कि यह आत्मा इन्द्रिय और मन से भिन्न है। वहां बताया गया है कि इन्द्रियाँ और मन ब्रह्म—आत्मा के विना कुछ भी करने में असमर्थ हैं। आत्मा का अस्तित्व होने पर ही चक्षु आदि इन्द्रियां और मन अपना अपना कार्य करते हैं। जिस प्रकार विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है, उसी प्रकार आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सद्रूप ब्रह्म है। इस बातका प्रतिपादन करके विज्ञान और आनन्द से भी पर ऐसे ब्रह्म की कल्पना[५] की गई।

---

[१] छागलेय उपनिषद् का सार—देखे, History of Indian Philosophy vol. 2, p. 131; मैत्री उपनिषद् २.३.४, कठो० १-२-३।

[२] केन १.२.

[३] प्रश्नोपनिषद् ३.३

[४] केन १.४—६

[५] तैत्तिरीय २.६

ब्रह्म और आत्मा पृथक् पृथक् नहीं हैं, किन्तु एक ही तत्त्व के दो नाम हैं[1]। इसी आत्मा को समस्त तत्त्वों से पर ऐसा पुरुष भी माना गया है और सब भूतों में गूढ़ात्मा भी कहा गया है[2]। कठोपनिषद् में बुद्धि—विज्ञान को प्राकृत—जड़ बताया गया है। अतः यह बात स्वाभाविक है कि विज्ञानात्मा की कल्पना से विचारक संतुष्ट न हों। अतः उससे भी आगे चिदात्मा—पुरुष—चेतनात्मा की शोध आवश्यक थी और वह ब्रह्म अथवा चेतन—आत्मा की कल्पना से पूर्ण हुई। इस प्रकार चिन्तकों ने अभौतिक तत्त्व के रूप में आत्मा का निश्चय किया। इस क्रम से भूत से लेकर चेतन की आत्मविचारणा की उत्क्रांति का इतिहास यहां पूर्ण हो जाता है।

विज्ञानात्मा का वर्णन करते हुए पहले यह लिखा जा चुका है कि उसे स्वतः प्रकाशित नहीं माना गया। सुप्तावस्था में वह अचेतन हो जाता है, वह स्वप्रकाशक नहीं। किन्तु इस पुरुष—चेतन आत्मा अथवा चिदात्मा के विषय में यह बात नहीं। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है, स्वतः प्रकाशित होता है[3]। वह विज्ञान का भी अन्तर्यामी है[4]। इस सर्वान्तरात्मा के विषय में कहा गया है कि वह साक्षात् है, अपरोक्ष है, प्राण का ग्रहण करने वाला वही है, आँख का देखने वाला वही है, कान का सुनने वाला वही है, मन का विचार करने वाला वही है, ज्ञान का जानने

---

[1] सर्वं हि एतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म—माण्डुक्य २, बृहदा० २.५.१९.

[2] कठो० १. ३. १०—१२.

[3] बृहदा० ४. ३. ६—९, विज्ञानात्मा व प्रज्ञानघन (बृहदा० ४.५. १३) आत्मा में अन्तर है। पहला प्राकृत है जब कि दूसरा पुरुष—चेतन है।

[4] बृहदा० ३.७.२२।

वाला वही है[1]। यही द्रष्टा है, यही श्रोता है, यही मनन करने वाला है, यही विज्ञाता[2] है। यह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्व प्रकाश रूप है, चिन्मात्र ज्योति स्वरूप है[3]।

इस पुरुष अथवा चिदात्मा को अजर, अक्षर, अमृत, अमर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अनन्त माना गया है[4]। इस विषय में कठ० (१.३.१५) में लिखा है कि अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त महत् तत्त्व से पर, ध्रुव ऐसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

(७) भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद

हम यह देख चुके हैं कि विचारक सब से पहले बाह्यदृष्टि से ग्राह्य भूत को ही मौलिक तत्त्व मानते थे, किन्तु काल क्रम से उन्होंने आत्मतत्त्व को स्वीकार किया। वह तत्त्व इन्द्रिय ग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था। जब उन्हें इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्व का बोध हुआ, तब यह स्वाभाविक था कि वे उसके स्वरूप के संबंध में विचार करने लगें। जिस समय प्राण, मन, और प्रज्ञा से भी पर आत्मा की कल्पना का जन्म हुआ, तब चिन्तकों के समक्ष नये नये प्रश्न उपस्थित होने लगे। प्राण, मन और प्रज्ञा ऐसे पदार्थ थे जिन का ज्ञान सरल था, किंतु आत्मा तो इन सब से पर माना गया। अतः उसका ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाए, वह कैसा है,

---

[1] बृहदा० ३ ४ १—२ ।

[2] बृहदा० ३.७. २३; ३.८. ११ ।

[3] मैत्रेय्युपनिषद् ३.१६.२१.

[4] कठ ३ २; बृहदा० ४.४ २०; ३.८.८, ४ ४.२५; श्वेता० १.९ इत्यादि

उसका स्वरूप क्या है, ये प्रश्न उठे। वास्तविक आत्मविद्या का श्रीगणेश इसी समय हुआ, और लोगों को इस विद्या का ऐसा व्यसन लगा कि उन्होंने आत्मा की शोध में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी। उन्हें आत्म-सुख की अपेक्षा इस संसार के भोग अथवा स्वर्ग के सुख तुच्छ प्रतीत हुए और उन्होंने त्याग एवं तपश्चर्या की कठिन यातनाओं को सहर्ष सहन किया। नचिकेता[1] जैसे बालक भी मृत्यु के उपरांत आत्मा की दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक हो गए कि उन्हें ऐहिक अथवा स्वर्ग के सुखसाधन हेय दिखाई दिए। मैत्रेयी[2] जैसी महिलाएँ अपने पति की संपत्ति का उत्तराधिकार लेने की अपेक्षा आत्म-विद्या की शोध में तल्लीन हो गईं और पति देव से कहने लगीं कि जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँ? अतः भगवन्! यदि आप अमर होने का उपाय जानते हैं तो मुझे बताइए। कुछ लोग तो पुकार पुकार कर कहने लगे कि जिसमें द्युलोक, अंतरिक्ष और पृथ्वी तथा सर्व प्राणों सहित मन ओतप्रोत है, ऐसे एक मात्र आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करो, शेष सब झंझट छोड़ दो। अमरता प्राप्त करने के लिए यह आत्मा सेतु के समान है।[3] याज्ञवल्क्य तो सब से आगे बढ़ कर घोषणा करता है कि पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सब चीज़ें आत्मा के निमित्त ही प्रिय मालूम होती हैं। अतः इस आत्मा को ही देखना चाहिए, उसके विषय में ही सुनना चाहिए, विचार करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, ऐसा करने से सब कुछ ज्ञात हो जाएगा।[4]

---

[1] कठो० १. १. २३—२९,

[2] बृहदा० २.४.३,

[3] मुडक २-२-५,

[4] बृहदा० ४-५-६,

इस प्रवृत्ति का एक शुभ फल यह हुआ कि विचारकों के मन में वैदिक कर्मकांड के प्रति विरोध की भावना जागरित हो गई। किन्तु आत्म-विद्या का भी अतिरेक हुआ। और अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में हरेक व्यक्ति मनमानी कल्पना करने लगा। ऐसी परिस्थिति में औपनिषद–आत्मविद्या के विषय में प्रतिक्रिया का सूत्र-पात होना स्वाभाविक था। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में हमें वही प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सभी उपनिषदों का अंतिम निष्कर्ष तो यही है कि विश्व के मूल में मात्र एक ही शाश्वत आत्मा—ब्रह्म तत्त्व है और इसे छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं है। उपनिषत् के ऋषियों ने अंत में यहां तक कह दिया कि अद्वैत तत्त्व के होते हुए भी जो व्यक्ति संसार में भेद की कल्पना करते हैं वे अपने सर्वनाश को निमंत्रण देते हैं।[१] इस प्रकार उस समय आत्मवाद की भीषण बाढ़ आई थी, अतः उस बाढ़ को रोकने के लिए बाध बांधने का काम भगवान् बुद्ध ने किया। इस कार्य में उन्हें स्थायी सफलता कितनी मिली, यह एक पृथक् प्रश्न है। हमें केवल यह बताना है कि भगवान् बुद्ध ने उस बाढ़ को अनात्मवाद की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया।

जब हम यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया, तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध किया है। उस निषेध का अभिप्राय इतना ही है कि उपनिषदों में जिस प्रकार से शाश्वत अद्वैत आत्मा का प्रतिपादन किया गया है और उसे विश्व का एक मात्र मौलिक तत्त्व माना गया है, भगवान् बुद्ध ने उस का विरोध किया।

---

[१] मनसैवानु द्रष्टव्य नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदा० ४. ४. १९, कठो० ४. ११

उपनिषत् के पूर्वोक्त भूतवादी और दार्शनिक सूत्रकाल के नास्तिक अथवा चार्वाक भी अनात्मवादी हैं और भगवान् बुद्ध भी अनात्मवादी हैं। दोनों इस बात से सहमत हैं कि आत्मा सर्वथा स्वतंत्र द्रव्य नहीं और वह नित्य या शाश्वत भी नहीं। अर्थात् दोनों के मत में आत्मा एक उत्पन्न होने वाली वस्तु है। किंतु चार्वाक और भगवान् बुद्ध में मतभेद यह है कि भगवान् बुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि पुद्गल, आत्मा, जीव, चित्त नाम की एक स्वतंत्र वस्तु है, जब कि भूतवादी उसे चार पांच भूतों से उत्पन्न होने वाली एक परतंत्र वस्तु मात्र मानते हैं। भगवान बुद्ध भी जीव, पुद्गल अथवा चित्त को अनेक कारणों द्वारा उत्पन्न तो मानते हैं और इस अर्थ में वह परतंत्र भी है, किंतु इस उत्पत्ति के जो कारण हैं उनमें विज्ञान और विज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारण विद्यमान होते हैं; जब कि चार्वाक मत में चैतन्य की उत्पत्ति में चैतन्य से व्यतिरिक्त भूत ही कारण हैं, चैतन्य कारण है ही नही। तात्पर्य यह है कि भूतों के समान विज्ञान भी एक मूल तत्त्व है जो जन्य और अनित्य है, यह भगवान् बुद्ध की मान्यता है और चार्वाक भूतों को ही मूल तत्त्व मानते हैं। बुद्ध चैतन्य विज्ञान की संतति-धारा को अनादि मानते हैं किंतु चार्वाक मत में चैतन्य धारा जैसी कोई चीज़ नहीं है। नदी का प्रवाह धाराबद्ध जल बिन्दुओं द्वारा निर्मित होता है और उसमें एकता की प्रतीति होती है। उसी प्रकार विज्ञान की संतति परंपरा से विज्ञान धारा का निर्माण होता है और उसमें भी एकत्व की झलक नज़र आती है। वस्तुतः जल बिन्दुओं के समान ही प्रत्येक देश और काल में विज्ञान क्षण भिन्न ही होते हैं। ऐसी विज्ञान धारा भगवान् बुद्ध को मान्य थी, किंतु चार्वाक उसे भी स्वीकार नहीं करते।

भगवान् बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान, चक्षु आदि इन्द्रियां, उनके विषय, उनसे होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक

धर्म और मनोविज्ञान इन सब पर एक एक करके विचार किया है और सबको अनित्य, दुःख एवं अनात्म घोषित किया है। इन सबके संबंध में वे प्रश्न करते कि ये नित्य हैं अथवा अनित्य? उन्हें उत्तर दिया जाता कि ये अनित्य हैं। वे पुनः पूछते कि यदि अनित्य हैं तो सुख रूप हैं अथवा दुःखरूप? उत्तर मिलता कि ये दुःखरूप हैं। वे फिर पूछने लगते कि जो वस्तु अनित्य हो, दुःख हो, विपरिणामी हो, क्या उसके विषय में 'यह मेरी है, यह मैं हूँ, यह मेरा आत्मा है' ऐसे विकल्प किए जा सकते हैं? उत्तर में नकरात्मक ध्वनि सुनाई देती। इस प्रकार वे श्रोताओं को इस बात का विश्वास करा देते कि सब कुछ अनात्म है, आत्मा जैसी वस्तु ढूँढने पर भी मिलती नहीं।[1]

भगवान् बुद्ध ने रूपादि सभी वस्तुओं को जन्य माना है और यह व्याप्ति बनाई है कि जो जन्य है, उसका निरोध आवश्यक[2] है। अतः बुद्ध मत में अनादि अनन्त आत्मतत्त्व का स्थान नहीं है।

हो सकता है कि कोई व्यक्ति इस बात के लिए उत्सुक हो कि पूर्वोक्त मनोमय आत्मा के साथ बौद्ध सम्मत पुद्गल अर्थात् देहधारी जीव, जिसे चित्त भी कहा गया है, की तुलना की जाए। किंतु वस्तुतः इन दोनों में भेद है। बौद्धमत में मन को अन्तःकरण माना गया है और इन्द्रियों की भाँति चित्तोत्पाद में यह भी एक कारण है। अतः मनोमय आत्मासे उसकी तुलना शक्य नहीं, परंतु विज्ञानात्मा से उसकी आंशिक तुलना संभव है।

---

[1] संयुत्तनिकाय १२. ७०. ३२-३७, दीघनिकाय-महानिदान सुत्त १५, विनयपिटक महावग्ग १.६. ३८-४६.

[2] य किंचि समुदयधम्मं सब्बं त निरोधधम्मं'—महावग्ग १. ६. २९. 'सब्बे सखारा अनिच्चा-दुक्खा-अनत्ता' अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात १३४

विज्ञानात्मा सतत जागरित नहीं होता, और न सतत संवेदक होता है। मगर सुप्तावस्था में अथवा मृत्यु के समय में वह लीन हो जाता है और बाद में पुनः संवेदक बन जाता है। पुद्गल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सुप्तावस्था अथवा मृत्यु के समय उसका भी निरोध होता है। इस तुलना को आंशिक इस लिए कहा गया है कि विज्ञानात्मा ही पुनः जागरित होता है, यह बात मान ली गई थी किन्तु बुद्ध ने तो जागरित होने वाले पुद्गल अथवा मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने वाले पुद्गल के विषय में यह 'वही है' या 'भिन्न' है इन दोनों विधानों में से किसी को भी उचित स्वीकार नहीं किया। यदि वे यह कहें कि उन्हीं पुद्गलों ने पुनः जन्म ग्रहण किया तो उपनिषत् सम्मत शाश्वतवाद का समर्थन हो जाता है जो कि उन्हें अनिष्ट है और यदि वे यह बात कहें कि 'भिन्न है' तो भौतिकवादियों के उच्छेद वाद को समर्थन प्राप्त होता है। वह भी बुद्ध के लिए इष्ट नहीं। अतः बुद्ध केवल इतना ही प्रतिपादन करते हैं कि प्रथम चित्त था, इसी लिए दूसरा उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाला वही नहीं है और उससे भिन्न भी नहीं है किन्तु वह उसकी धारा में ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बुद्ध का उपदेश था कि जन्म, जरा, मरण आदि किसी स्थाई ध्रुव जीव के नहीं होते किंतु वे सब अमुक कारणों से उत्पन्न होते हैं। बुद्ध मत में जन्म, जरा, मरण इन सबका अस्तित्व तो है, किन्तु बौद्ध यह स्वीकार नहीं करते कि इन सब का कोई स्थायी आधार[1] भी है। तात्पर्य यह है कि बुद्ध को जहां चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहां उपनिषत् संमत सर्वान्तर्यामी, नित्य, ध्रुव, शाश्वत स्वरूप आत्मा भी अमान्य

---

[1] संयुत्तनिकाय १२-२६, अंगुत्तरनिकाय ३, दीघनिकाय ब्रह्मजाल-सुत्तं, संयुत्तनिकाय १२. १७, २४; विसुद्धिमग्ग १७. १६६-१७४

है। उनके मत में आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नहीं और शरीर से अभिन्न भी नहीं। उन्हें चार्वाक संमत भौतिकवाद एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है जिसे वे 'प्रतीत्यसमुत्पाद'—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई—कहते हैं। वह वाद न तो शाश्वतवाद है और न ही उच्छेद वाद, उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद का नाम दिया जा सकता है।

बुद्ध मत के अनुसार संसार में सुख दुःख आदि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, बंध है, मुक्ति भी है—ये सब कुछ है, किन्तु इन सब का कोई स्थिर आधार नहीं—नित्यत्व नहीं। ये समस्त अवस्थाएँ अपने पूर्ववर्ती कारणों से उत्पन्न होती रहती हैं और एक नवीन कार्य को उत्पन्न कर के नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद अथवा उस का ध्रौव्य दोनों ही मान्य नहीं हैं। उत्तरावस्था पूर्वावस्था से नितान्त असंबद्ध है, अपूर्व है—यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि दोनों कार्यकारण की शृंखला में बद्ध हैं। पूर्व के सब संस्कार उत्तर में आ जाते हैं, अतः इस समय जो पूर्व है वह उत्तर रूप में अस्तित्व में आता है। उत्तर पूर्व से न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु वह अव्याकृत है। भिन्न मानने से उच्छेदवाद और अभिन्न कहने से शाश्वतवाद मानना पड़ता है। भगवान् बुद्ध को ये दोनों ही वाद इष्ट नहीं थे। अतः ऐसे विषयों के संबंध में उन्होंने अव्याकृतवाद की शरण ली।[१]

बुद्धघोष ने इसी विषय को पौराणिकों का वचन कह कर प्रतिपादित किया है:—

---

[१] न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना देखें—पृ० ६, मिलिन्द प्रश्न २. २५–३३, पृ० ४१–५२,

कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको ।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं ॥
एवं कम्मे विपाके च वत्तमाने सहेतुके ।
बीजरुक्खाकानं व पुब्बा कोटि न नायति ॥
अनागते पि संसारे अप्पवत्तं न दिस्सति ।
एतमत्थं अनञ्ञाय तित्थिया असयंवसी ॥
सत्तसञ्ञं गहेत्वान सस्सतुच्छेददस्सिनो ।
द्वासट्ठिदिट्ठिं गण्हन्ति अञ्ञमञ्ञविरोधिता ॥
दिट्ठिवंधन-बद्धा ते तण्हासोतेन वुय्हरे ।
तण्हासोतेन वुय्हन्ता न ते दुक्खा पमुच्चरे ॥
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको ।
गम्भीरं निपुणं सुञ्ञं पच्चयं पटिविज्जति ॥
कम्मं नत्थि विपाकम्हि पाको कम्मे न विज्जति ।
अञ्ञमञ्ञं उभो सुञ्ञा न च कम्मं विना फलं ॥
यथा न सुरिये अग्गि न मणिम्हि न गोमये ।
न तेसिं वहि सो अत्थि संभारेहि च जायति ॥
तथा न अन्ते कम्मस्स विपाको उपलब्भति ।
वहिद्धावि न कम्मस्स न कम्मं तत्थ विज्जति ॥
फलेन सुञ्जं तं कम्मं फलं कम्मे न विज्जति ।
कम्मं च खो उपादाय ततो निब्बत्तती फलं ॥
न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा संसारस्सत्थिकारको ।
सुद्धधम्मा पवत्तंति हेतुसंभारपच्चया ॥

इसका तात्पर्य यह है कि :—कर्म को करने वाला कोई नहीं है, विपाक—कर्म के फल का अनुभव करने वाला कोई नहीं है, किन्तु शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है, यही सम्यग्दर्शन है ।

इस प्रकार कर्म और विपाक अपने अपने हेतुओं पर अश्रित होकर प्रवृत्त होते हैं, उन में पहला स्थान किसका है यह बीज और

वृक्ष के प्रश्न की भांति नहीं बताया जा सकता। अर्थात् बीज और वृक्ष के समान कर्म एवं विपाक अनादि काल से एक दूसरे पर आश्रित चले आ रहे हैं।

पुनश्च यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म और विपाक की यह परंपरा कब निरुद्ध होगी। इस बात को न जानने से तैर्थिक पराधीन होते हैं।

सत्त्व—जीव के विषय में कुछ लोग शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अवलम्बन लेते हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं।

भिन्न भिन्न दृष्टियों के बन्धन में बद्ध होकर वे तृष्णारूपी स्रोत में फंस जाते हैं और उसमें फंस जाने के कारण वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते।

इस तत्त्व को समझकर बुद्ध श्रावक गंभीर, निपुण और शून्य रूप प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करता है।

विपाक में कर्म नहीं है और कर्म में विपाक नहीं है, ये दोनों एक दूसरे से रहित हैं, फिर भी कर्म के बिना फल या विपाक होता ही नहीं।

जिस प्रकार सूर्य में अग्नि नहीं है, मणि में नहीं है, उपलों (गोबर) में भी नहीं है, किन्तु वह इनसे भिन्न पदार्थों में भी नहीं है, जब इन सबका समुदाय होता है तब वह उत्पन्न होती है; उसी प्रकार कर्म का विपाक कर्ममें उपलब्ध नहीं होता और कर्म के बाहर नहीं मिलता तथा विपाक में भी कर्म नहीं है। इस प्रकार कर्म फलशून्य है, कर्म में फल का अभाव है, फिर भी कर्म के होने पर ही फल मिलता है।

कोई देव या ब्रह्म इस संसार का कर्ता नहीं है—हेतुसमुदाय का आश्रय लेकर शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है—विशुद्धि-मार्ग १९.२०

भदंत नागसेन ने रथ की उपमा देकर बताया है कि पुद्गल का अस्तित्व केश, दांत आदि शरीर के अवयवों तथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन सबकी अपेक्षा से है, किन्तु कोई परमार्थिक तत्त्व नहीं—मिलिन्द प्रश्न २.४ सू० २९८।

स्वयं बुद्धघोष ने भी कहा है:—

> यथेव चक्खुविञ्ञाणं मनोधातु अनन्तरं।
> न चेव आगतं नापि न निब्बतं अनन्तरं॥
> तथेव पटिसंधिह्मि वत्तते चित्तसंतति।
> पुरिमं भिज्जति चित्तं पच्छिमं जायते ततो॥

जिस प्रकार मनोधातु के पश्चात् चक्षुर्विज्ञान होता है—वह कहीं से आया तो नहीं, फिर भी यह बात नहीं कि वह उत्पन्न नहीं हुआ; उसी प्रकार जन्मान्तर में चित्त संतति के विषय में समझना चाहिए कि पूर्व चित्त का नाश हुआ है और उससे नये चित्त की उत्पत्ति हुई है—विशुद्धिमार्ग १९.२३।

भगवान् बुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना-अनेक कहा है। यह चेतन तो है किंतु मात्र चेतन ही है, ऐसी बात नहीं। यह नाम और रूप दोनों का समुदाय रूप है, अर्थात् उसे भौतिक और अभौतिक का मिश्ररूप कहना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध-संमत पुद्गल उपनिषत् की भांति केवल चेतन अथवा भूत-वादियों की मान्यता के समान केवल अचेतन नहीं है। इस विषय में भी भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग है—मिलिन्द प्रश्न २.३३; विशुद्धिमार्ग १८.२५-३५; संयुत्तनिकाय १.१३५।

(८) दार्शनिकों का आत्मवाद

उपनिषत्-काल के पश्चात् भारतीय विविध दर्शनों की व्यवस्था हुई है, अतः अब इस विषय का निर्देश करना भी आवश्यक है। उपनिषद् चाहे दीर्घ काल की विचार परंपरा को व्यक्त करते हों, किंतु, उनमें एक सूत्र सामान्य है। भूतवाद की प्रधानता मानी जाए या आत्मवाद की, यह एक बात निश्चित है कि विश्व के मूल में किसी एक ही वस्तु की सत्ता है, अनेक वस्तुओं की नही। यह एकसूत्रता समस्त उपनिषदों में दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद (१०.१२९) में उसे 'तदेकं' कहा गया था, किंतु उसका नाम नहीं बताया गया था। ब्राह्मण काल में उस तत्त्व को प्रजापति की संज्ञा दी गई। उपनिषदों में उसे सत्, असत्, आकाश, जल, वायु, प्राण, मन, प्रज्ञा, आत्मा, ब्रह्म आदि विविध नामों से प्रकट किया गया। किंतु उनमें विश्व के मूल में अनेक तत्त्वों को स्वीकार करने वाली विचारधारा को स्थान नहीं मिला। जब दार्शनिक सूत्रों की रचना हुई तब वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त किसी भी भारतीय वैदिक अथवा अवैदिक दर्शन में अद्वैतवाद को आश्रय मिला हो, यह ज्ञात नहीं होता। अतः हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चाहे उपनिषदों के पहले का अवैदिक परंपरा का साहित्य उपलब्ध न हुआ हो, परन्तु अद्वैतविरोधी परंपरा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से अवश्य था। इस परंपरा के अस्तित्व के आधार पर ही वेद व ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित वैदिक कर्मकांड के स्थान पर स्वयं वेदानुयायिओं ने भी ज्ञानमार्ग और आध्यात्मिक मार्ग को ग्रहण किया और इसी परंपरा के कारण वैदिक दर्शनों ने अद्वैत मार्ग का त्याग कर द्वैत मार्ग अथवा बहुतत्त्ववादी परंपरा को स्थान दिया। वेदविरोधी श्रमण परंपरा में जैन परंपरा, आजीवक परंपरा, बौद्ध परंपरा, चार्वाक परंपरा आदि अनेक परंपराएँ

अस्तित्व में आई, किन्तु वर्तमान काल में जैन और बौद्ध परंपरा ही विद्यमान हैं। हम यह देख चुके हैं कि अद्वैत चेतन आत्मा अथवा ब्रह्म तत्त्व को स्वीकार कर उपनिषद्-विचार धारा पराकाष्ठा को पहुंची। किन्तु वैदिक दर्शनों में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, और पूर्व मीमांसा केवल अद्वैत आत्मा को ही नहीं अपि तु जड़ चेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों को मौलिक मानते हैं। यही नहीं, उन्होंने आत्म तत्त्व को भी एक न मान कर बहुसंख्यक स्वीकार किया है। उक्त सभी दर्शनों ने आत्मा को उपनिपदों की भांति चेतन प्रतिपादित किया है—अर्थात् आत्मा को उन्होंने भौतिक नहीं माना।

(९) जैनमत

इन सब वैदिक दर्शनों के समान जैन दर्शन में भी आत्मा को चेतन तत्त्व स्वीकार किया गया है और उसे अनेक माना गया है। किंतु यह चेतन तत्त्व अपनी संसारी अवस्था में बौद्ध दर्शन के पुद्गल के समान मूर्त्तामूर्त्त है। वह ज्ञानादि गुण की अपेक्षा से अमूर्त्त है और कर्म के साथ संबंधित होने के कारण मूर्त्त है। इसके विपरीत अन्य सब दर्शनों ने चेतन को अमूर्त्त माना है।

उपसंहार

समस्त भारतीय दर्शनों ने यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमें और दूसरे दर्शनों में मतभेद यह है कि चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतों से उत्पन्न होता है। बौद्ध भी चेतन तत्त्व को अन्य दर्शनों की भांति नित्य नहीं मानते, अपितु चार्वाकों के समान जन्य मानते हैं। फिर

भी बौद्धों और चार्वाकों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। बौद्धों की मान्यता के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन संतति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतन को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चैतन्य क्षण को उसके पूर्वजनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते हैं। बौद्ध दर्शन में चार्वाक का उच्छेदवाद किंवा उपनिषदों और अन्य दर्शनों का आत्मशाश्वतवाद मान्य नहीं, अतः वे आत्म संतति को अनादि मानते हैं, आत्मा को अनादि नहीं मानते। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा और जैन ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन और पूर्व मीमांसा दर्शन का भाट्ट संप्रदाय आत्मा को परिणामी नित्य मानते हैं। शेष सभी दर्शन उसे कूटस्थ नित्य मानते हैं।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले, उसमें किसी भी प्रकार के परिणाम का निषेध करने वाले, संसार और मोक्ष को तो मानते ही हैं और आत्मा को परिणामी नित्य मानने वाले भी संसार व मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अतः आत्मा को कूटस्थ या परिणामी मानने पर भी संसार और मोक्ष के विषय में किसी भी प्रकार का मत भेद नहीं है। वे दोनों हैं ही। यह एक अलग प्रश्न है कि उन दोनों की उपपत्ति कैसे की जाए।

आत्मा के सामान्य स्वरूप चैतन्य का विचार करने के उपरांत उसके विशेष स्वरूप का विचार करना अब सरल है।

जीव अनेक हैं

हम यह देख चुके हैं कि वेद से लेकर उपनिषदों तक की विचार धारा में मुख्यतः अद्वैत पक्ष का ही अवलम्बन किया गया है। अतः उपनिषदों के आधार पर जब ब्रह्मसूत्र में वेदान्त दर्शन की व्यवस्था की गई, तब भी उसमें अद्वैत के सिद्धांत को ही

पुष्ट किया गया। किंतु संसार में जो अनेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनका निषेध करना सरल नहीं था। अतः हम देखते हैं कि तत्त्वतः एक आत्मा मान कर भी उस एक अद्वैत आत्मा अथवा ब्रह्म के साथ संसार में प्रत्यक्ष दृग्गोचर होने वाले अनेक जीवों का क्या संबंध है, इस बात की व्याख्या करना आवश्यक था। ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों ने यह स्पष्टीकरण किया भी है। किंतु इसमें एकमत स्थिर नहीं हो सका। अतः व्याख्याभेद के कारण वेदान्त दर्शन की अनेक परंपराएँ बन गइ हैं।

वेदान्त दर्शन के समान अन्य भी वैदिक दर्शन हैं। किंतु उन्होंने वेदान्त की भांति उपनिपदों को ही आधार भूत मानकर अपने दर्शन की रचना नहीं की। रूढि के कारण शास्त्र अथवा आगम के स्थान पर वेद और उपनिषदों को मानते हुए भी उन दर्शनों में उपनिपदों के अद्वैत पक्ष को आदर नहीं मिला, परंतु वहाँ वेदेतर जैन दर्शन के समान आत्मा को तत्त्वतः अनेक माना गया है। ऐसे वैदिक दर्शन न्याय-वैशेषिक, सांख्य,-योग और पूर्व मीमांसा हैं। यह पक्ष बौद्धो को भी मान्य है।

वेदान्त पक्ष और वेदान्तेतर पक्ष में मौलिक भेद यह है कि वेदान्त मत में एक आत्मा ही मौलिक तत्त्व है और संसार में दिखाई देने वाली अनेक आत्माएँ उस एक मौलिक आत्मा के ही कारण से हैं, वे सब स्वतंत्र नहीं हैं। इसके विपरीत इतर पक्ष का कथन है कि संसार में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माओं में प्रत्येक स्वतंत्र आत्मा है, वह अपने अस्तित्व के लिए तत्त्वतः किसी अन्य आत्मा पर आश्रित नहीं है।

वेद और उपनिषदों के अनुयायिओं को इन ग्रंथों की विचार धारा स्वीकार करनी चाहिए अर्थात्, अद्वैत पक्ष को मान्यता देनी चाहिए, किन्तु वेदान्त के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शन ऐसा नहीं

करते। उन्होंने अनेक आत्माएँ स्वीकार की, इससे उन पर वेद-बाह्य विचारधारा का प्रभाव सूचित होता है। इसमें आश्चर्य नहीं कि प्राचीन सांख्य और जैन परंपरा ने इस विषय में मुख्य भाग लिया होगा। ऐतिहासिक इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि प्राचीन काल में सांख्य भी अवैदिक दर्शन माना जाता था परन्तु बाद में उसे वैदिक रूप दे दिया गया।

इस प्रासंगिक चर्चा के उपरान्त अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ब्रह्मसूत्र की व्याख्याओं में अद्वैत ब्रह्म के साथ अनेक जीवों की उपपत्ति करने में कौन कौन से मतभेद हुए।

(अ) वेदान्तियों के मतभेद[1]

(१) शंकराचार्य का विवर्तवाद—

शंकराचार्य का कथन है कि मूलरूप में ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जीवों के रूप में दृग्गोचर होता है। जैसे अज्ञान के कारण रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञान के कारण ब्रह्म में अनेक जीवों की प्रतीति होती है। रस्सी सर्प रूप में उत्पन्न नहीं होती, नहीं वह सर्प को उत्पन्न करती है, फिर भी उसमें सर्प का भान होता है। इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न नहीं होता, अनेक जीवों को उत्पन्न भी नहीं करता, तथापि अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण अविद्या या माया है। अतः अनेक जीव मायारूप हैं, मिथ्या हैं। इसी लिए उन्हें ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है। यदि जीव का यह अज्ञान दूर हो जाए

---

[1] इन मतभेदो का प्रदर्शन श्री गो० ह० भट्टकृत ब्रह्मसूत्राणुभाष्य के गुजराती भाषांतर की प्रस्तावना का मुख्य आधार लेकर किया गया है। उनका आभार मानता हूँ।

तो ब्रह्मतादात्म्य की अनुभूति हो—अर्थात् जीवभाव दूर होकर ब्रह्म भाव का अनुभव हो। शंकर के इस मत को 'केवलाद्वैतवाद' इस लिए कहा जाता है कि वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म-आत्मा को ही सत्य मानते हैं, शेष समस्त पदार्थों को मायारूप अथवा मिथ्या मानते हैं। जगत् को मिथ्या स्वीकार करने के कारण उस मत को 'मायावाद' भी कहा गया है जिसका दूसरा नाम 'विवर्तवाद' भी है।

(२) भास्कराचार्य का सत्योपाधिवाद

भास्कराचार्य यह मानते हैं कि अनादिकालीन सत्य उपाधि के कारण निरुपाधिक ब्रह्म जीवरूप में प्रकट होता है। जिस क्रिया के वश नित्य, शुद्ध, मुक्त, कूटस्थ ब्रह्म मूर्त्त पदार्थों में प्रवेश कर अनेक जीवों के रूप में प्रकट होता है और उन जीवों का आधार बनता है, उस क्रिया को 'उपाधि' कहते हैं। इस उपाधि के संबंध के कारण ब्रह्म जीव रूप में प्रकट होता है, अतः ब्रह्म का औपाधिक स्वरूप जीव है, यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में वस्तुतः अभेद होते हुए भी जो भेद है, वह उपाधिमूलक है, किंतु जीव ब्रह्म का विकार नहीं है। जब वह निरुपाधिक होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं और सोपाधिक होने पर उसे जीव कहते हैं। ब्रह्म के सोपाधिक रूप अनेक होते हैं अतः अनेक जीवों की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं आती। उपाधि के सत्यस्वरूप होने के कारण और इसी उपाधि से जगत् तथा अनेक जीवों की उपपत्ति सिद्ध करने के कारण भास्कराचार्य के मत को 'सत्योपाधिवाद' कहते हैं। इससे विपरीत शंकराचार्य उपाधि को मिथ्या मानते हैं, उनका मत 'मायावाद' कहलाता है। भास्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अपनी परिणाम शक्ति अथवा भोग्यशक्ति के कारण जगत् रूप में परिणत होता है, अतः जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। इस प्रकार भास्कराचार्य ने जगत् के

संबंध में शंकराचार्य के विवर्तवाद के स्थान पर प्राचीन परिणाम-वाद का समर्थन किया। और उसके पश्चात् रामानुजाचार्य आदि अन्य आचार्यों ने भी उसी का अनुसरण किया।

(३) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वाद

रामानुज के मतानुसार परमात्मा ब्रह्म कारण भी है और कार्य भी। सूक्ष्म चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। इन दोनों विशिष्टों का ऐक्य स्वीकृत करने के कारण रामानुज का मत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। कारणरूप ब्रह्म परमात्मा के सूक्ष्मचिद्रूप के विविध स्थूल परिणाम ही अनेक जीव हैं और परमात्मा का सूक्ष्म अचिद्रूप स्थूल जगत् के रूप में परिणत होता है। रामानुज के अनुसार जीव अनेक हैं, नित्य हैं और अणुपरिमाण हैं। जीव और जगत् दोनों ही परमात्मा के कार्य—परिणाम हैं, अतः वे मिथ्या नहीं प्रत्युत सत्य हैं। मुक्ति में जीव परमात्मा के समान होकर उसके ही निकट रहता है। रामानुज की मान्यता है कि जीव और परमात्मा दोनों पृथक् हैं, एक कारण है और दूसरा कार्य, किंतु कार्य कारण का ही परिणाम है अतः इन दोनों में अद्वैत है।

(४) निम्बार्क सम्मत द्वैताद्वैत-भेदाभेदवाद

आचार्य निम्बार्क के मत में परमात्मा के दो स्वरूप हैं, चित् और अचित्। ये दोनों ही परमात्मा से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। जिस प्रकार वृक्ष और उसके पत्र, दीपक और उसके प्रकाश में भेदाभेद है, उसी प्रकार परमात्मा में भी चित् और अचित् इन दोनों का भेदाभेद है। जगत् सत्य है क्योंकि यह परमात्मा की शक्ति का परिणाम है। जीव परमात्मा का अंश है और अंश तथा अंशी में भेदाभेद होता है। ऐसे जीव अनेक हैं, नित्य हैं,

अणुपरिमाण हैं। अविद्या और कर्म के कारण जीव के लिए संसार का अस्तित्व है। रामानुज की मान्यता के समान मुक्ति में भी जीव और परमात्मा में भेद है, फिर भी जीव अपने को परमात्मा से अभिन्न समझता है।

(५) मध्वाचार्य का भेदवाद

वेदान्त दर्शन में समाविष्ट होने पर भी मध्वाचार्य का दर्शन वस्तुतः अद्वैती न हो कर द्वैती ही है। रामानुज आदि आचार्यों ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है, अर्थात् ब्रह्म को उपादान कारण स्वीकार किया है और इस प्रकार अद्वैतवाद की रक्षा की है। किंतु मध्वाचार्य ने परमात्मा को निमित्त कारण मान कर प्रकृति को उपादान कारण प्रतिपादित किया है। रामानुज आदि आचार्यों ने जीव को भी परमात्मा का ही कार्य, परिणाम, अंश आदि माना है और इस प्रकार दोनों में अभेद बताया है। परन्तु मध्वाचार्य ने अनेक जीव मान कर उनमें परस्पर भेद माना है और साथ ही ईश्वर से भी उन सब का भेद स्वीकार किया है। इस तरह मध्वाचार्य ने समस्त उपनिषदों की अद्वैत प्रवृत्ति को बदल डाला है। उनके मत में जीव अनेक हैं, नित्य हैं, और अणुपरिमाण हैं। जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार जीव भी सत्य हैं, परन्तु वे परमात्मा के अधीन हैं।

(६) विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत

विज्ञान भिक्षु का मत है कि प्रकृति और पुरुष—जीव—ये दोनों ब्रह्म से भिन्न हो कर विभक्त नहीं रह सकते, किंतु वे उसमें अन्तर्हित-गुप्त-अविभक्त-हैं, अतः उसके मत का नाम 'अविभागाद्वैत' है। पुरुष या जीव अनेक हैं, नित्य हैं, व्यापक हैं। जीव और ब्रह्म का संबंध पिता पुत्र के संबंध के समान है। वह अंशांशिभाव युक्त है। जन्म से पूर्व पुत्र पिता में ही था, उसी प्रकार

जीव भी ब्रह्म में था, ब्रह्म से ही वह प्रकट होता है तथा प्रलय के समय ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। ईश्वर की इच्छा से जीव और प्रकृति में संबंध स्थापित होता है और जगत् की उत्पत्ति होती है।

(७) चैतन्य का अचिंत्य भेदाभेदवाद

श्री चैतन्य के मत में श्री कृष्ण ही परम ब्रह्म है। उसकी अनन्त शक्तियों में जीव शक्ति भी सम्मिलित है और उस शक्ति से अनेक जीवों का आविर्भाव होता है। ये जीव अणुपरिमाण हैं, ब्रह्म के अंश रूप हैं और ब्रह्म के अधीन हैं। जीव और जगत् परम ब्रह्म से भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं, यह एक अचिन्त्य विषय है। इसीलिए चैतन्य के मत का नाम 'अचिंत्यभेदाभेदवाद' है। भक्त के जीवन का परम ध्येय यह माना गया है कि जीव परम ब्रह्मरूप कृष्ण से भिन्न होने पर भी उसकी भक्ति में तल्लीन हो कर यह मानने लग जाए कि वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर कृष्ण स्वरूप हो रहा है।

(८) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत मार्ग—

आचार्य वल्लभ के मतानुसार यद्यपि जगत् ब्रह्म का परिणाम है तथापि ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। स्वयं शुद्ध ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है। इससे न तो माया का संबंध है और न अविद्या का, अतः वह शुद्ध कहलाता है और यह शुद्ध ब्रह्म ही कारण तथा कार्य इन दोनों रूपों वाला है। अतः इस वाद को 'शुद्धाद्वैतवाद' कहते हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कारण ब्रह्म के समान कार्य ब्रह्म अर्थात् जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं। "ब्रह्म से जीव का उद्गम अग्नि से स्फुलिंग की उत्पत्ति के समान है। जीव में ब्रह्म के सत् और चित् ये दो अंश प्रकट होते हैं, आनन्द अंश अप्रगट रहता है,

जीव नित्य है और अणुपरिमाण है, ब्रह्म का अंश है तथा ब्रह्म से अभिन्न है।" जीव की अविद्या से उसके अहंता अथवा ममतात्मक संसार का निर्माण होता है। विद्या से अविद्या का नाश होने पर उक्त संसार भी नष्ट हो जाता है

(आ) शैवों का मत

हम यह वर्णन कर चुके हैं कि वेद और उपनिषदों को प्रमाण मानकर अद्वैत ब्रह्म-परमात्मा को मानने वाले वेदान्तियों ने जीवों के अनेक होने की उपपत्ति किस प्रकार सिद्ध की है। अब हम शिव के अनुयायी उन शैवों के मत पर विचार करेंगे जो वेद और उपनिषदों को प्रमाणभूत न मानते हुए और वैदिकों द्वारा उपदिष्ट वर्णाश्रम धर्म को अस्वीकार करते हुए भी अद्वैत मार्ग का आश्रय लेते हैं और उसके आधार पर अनेक जीवों की सिद्धि करते हैं। इस मत का दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' भी है।

शैवों के मत में परम ब्रह्म के स्थान पर अनुत्तर नाम का एक तत्त्व है। यह तत्त्व सर्वशक्तिमान् नित्य पदार्थ है। उसे शिव और महेश्वर भी कहते हैं। जीव और जगत् ये दोनो शिव की इच्छा से शिव से ही प्रकट होते हैं। अतः ये दोनों पदार्थ मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य हैं।

आत्मा का परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण के विषय में अनेक कल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं। किंतु इन सब कल्पनाओं के अंत में ऋषियों की प्रवृत्ति आत्मा को व्यापक मानने की ओर विशेष रूप से हुई।[1] यही कारण है कि लगभग सभी वैदिक दर्शनों ने आत्मा

---

[1] मुंडक १.१.६; वैशे० ७.१.२२; न्यायमंजरी पृ० ४६८ (विजय०); प्रकरणपं० पृ० १५८।

को व्यापक माना है। इस विषय में शंकराचार्य को छोड़ कर बाकी के रामानुज आदि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार अपवाद हैं। उन्होंने ब्रह्मात्मा को व्यापक तथा जीवात्मा को अणुपरिमाण माना है। चार्वाक ने चैतन्य को देहपरिमाण माना और बौद्धों ने भी पुद्गलको देहपरिमाण स्वीकार किया ऐसी कल्पना की जा सकती है। जैनों ने तो आत्मा को देहपरिमाण स्वीकार किया है। आत्मा को देहपरिमाण मानने की मान्यता उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। कौपीतकी उपनिषद् में कहा है कि जैसे तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, उसी तरह आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय-प्राणमय, मनोमय-विज्ञानमय, आनन्दमय इन सब आत्माओं को शरीरप्रमाण बताया गया है।[2] उपनिषदों में इस बात का भी प्रमाण है कि आत्मा को शरीर से भी सूक्ष्म परिमाण मानने वाले ऋषि विद्यमान थे। बृहदारण्यक में लिखा है कि आत्मा चावल या जौ के दाने के परिमाण की है।[3] कुछ लोगों के मतानुसार वह अंगुष्ठ परिमाण है[4] और कुछ की मान्यता के अनुसार वह विलस्त परिमाण[5] है। मैत्री उपनिषद् (६.३८) में तो उसे अणु से भी अणु माना गया है। बाद में जब आत्मा को अवर्ण्य माना गया, तब ऋषियों ने उसे अणु से भी अणु और महान् से भी महान् मान कर सन्तोष किया।[6]

---

[1] कौपीतकी ४.२०

[2] तैत्तिरीय १.२

[3] बृहदा० ५.६.१

[4] कठ २.२.१२

[5] छान्दोग्य ५.१८.१

[6] कठ १.२.२०; छादो० ३.१४.३; श्वेता० ३.२०

जब सभी दर्शनों ने आत्मा की व्यापकता को स्वीकार किया, तब जैनों ने उसे देहपरिमाण मानते हुए भी केवलज्ञान की अपेक्षा से व्यापक कहना शुरू किया।[1] अथवा समुद्घात की अवस्था में आत्मा के प्रदेशों का जो विस्तार होता है, उसकी अपेक्षा से उसे लोकव्याप्त कहा जाने लगा (न्यायखण्डखाद्य)।

आत्मा को देह परिमाण मानने वालों की युक्तियों का सार विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों में दिया गया है, अतः इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है। किंतु एक बात का यहां उल्लेख करना अनिवार्य है। जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में भी संसारी आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख इत्यादि गुण शरीर मर्यादित आत्मा में ही अनुभूत होते हैं, शरीर के बाहर के आत्म प्रदेशों में नहीं। इस प्रकार संसारी आत्मा को व्यापक माना जाए अथवा शरीर प्रमाण, संसारावस्था तो शरीर मर्यादित आत्मा में ही है।

आत्मा को व्यापक स्वीकार करने वालों के मत में जीव की भिन्न भिन्न नारकादि गति संभव है, किंतु उनके अनुसार गति का अर्थ जीव का गमन नहीं। वे मानते हैं कि वहां लिंग शरीर का गमन होता है और उसके बाद वहां व्यापक आत्मा से नवीन शरीर का संबंध होता होता है। इसी को जीव की गति कहते हैं। इससे विपरीत देहपरिमाणवादी जैनों की मान्यता के अनुसार जीव अपने कार्मण शरीर के साथ उन स्थानों में गमन करता है और नए शरीर की रचना करता है। जो दार्शनिक जीव को अणुपरिमाण मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार भी जीव लिंग शरीर को साथ ले कर गमन करता है और नए शरीर का निर्माण करता है। बौद्धों के मत में गति का अर्थ यह है कि मृत्यु के समय एक पुद्गल का निरोध

---

[1] ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह टी० १०

होता है और उसी के कारण अन्यत्र नवीन पुद्गल उत्पन्न होता है। इसी को पुद्गल की गति कहते हैं।

उपनिषदों में भी क्वचित् मृत्यु के समय जीव की गति अथवा गमन का वर्णन आता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव की गति की मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है।[1]

जीव की नित्यता-अनित्यता

(१) जैन और मीमांसक

उपनिषत् के 'विज्ञानघन' इत्यादि वाक्य की व्याख्या (विशेषा० गा० १५९३-६) और बौद्ध समस्त 'क्षणिक विज्ञान' का निराकरण (विशेषा० गा० १६३१) करते हुए तथा अन्यत्र (विशेषा० गा० १८४३, १९६१) आत्मा को नित्यानित्य कहा गया है। चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है—अर्थात् आत्मा कभी भी अनात्मा से उत्पन्न नहीं होती और नहीं आत्मा किसी भी अवस्था में अनात्मा बनती है। इस दृष्टि से उसे नित्य कहते हैं। परन्तु आत्मा में ज्ञान-विज्ञान की पर्याय अथवा अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः वह अनित्य भी है। यह स्पष्टीकरण जैन दृष्टि के अनुसार है और मीमांसक कुमारिल को भी यह दृष्टि मान्य है।[2]

(२) सांख्य का कूटस्थवाद

इस विषय में दार्शनिकों की परंपराओं पर कुछ विचार करना आवश्यक है। सांख्य-योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं—अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार इष्ट नहीं। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नहीं प्रत्युत प्रकृति के माने गए हैं।

---

[1] छान्दोग्य ८.६.५.

[2] तत्त्वसं० का० २२३—७, श्लोकवा० आत्मवाद २३—३०

(साख्यका० ६२) सुख दुःख ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं (सां० का० ११)। इस तरह वे आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करते हैं। कर्तृत्व न होने पर भी भोग आत्मा में ही माना गया है।[1] इस भोग के आधार पर भी आत्मा में परिणाम की संभावना है, अतः कुछ सांख्य भोग को भी वस्तुतः आत्मा का धर्म मानना उचित नहीं समझते[2]। इस प्रकार उन्होंने आत्मा के कूटस्थ होने की मान्यता की रक्षा का प्रयत्न किया है। सांख्य के इस वाद को कतिपय उपनिषद्-वाक्यों का आधार भी प्राप्त[3] है। अतः हम कह सकते हैं कि आत्मकुटस्थवाद प्राचीन है।

(३) नैयायिक-वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य व गुणों को भिन्न मानते हैं। अतः उनके मतके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आत्मद्रव्य में ज्ञानादि गुणों को मानकर भी गुणों की अनित्यता के आधार पर आत्मा को अनित्य माना जाए। इसके विपरीत जैन आत्मद्रव्य से ज्ञानादि गुणों का अभेद भी मानते हैं। अतः गुणों की अस्थिरता के कारण वे आत्मा को भी अस्थिर या अनित्य कहते हैं।

(४) बौद्धसम्मत अनित्यवाद

बौद्ध के मत में जीव अथवा पुद्गल अनित्य हैं। प्रत्येक क्षण विज्ञान आदि चित्तक्षण नए नए उत्पन्न होते हैं और पुद्गल इन विज्ञान क्षणों से भिन्न नहीं हैं, अतः उनके मत में पुद्गल या जीव अनित्य हैं। किंतु एक पुद्गल की संतति अनादि काल से

---

[1] सांख्यका० १७

[2] साख्यत० १७

[3] कठ १.२. १८—१९

चली आ रही है और भविष्य में भी वह चालू रहेगी। अतः द्रव्य नित्यता के स्थल पर संततिनित्यता तो बौद्धों को भी अभीष्ट है। कार्य-कारण की परंपरा को संतति कहते हैं। इस परंपरा का कभी उच्छेद नहीं हुआ और भविष्य में भी उसका क्रम विद्यमान रहेगा। कुछ बौद्ध विद्वानों के अनुसार निर्वाण के समय यह परंपरा समाप्त हो जाती है, किंतु कुछ अन्य बौद्धों के मत से विशुद्ध चित्तपरंपरा कायम रहती है। अतः इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि बौद्धों को संततिनित्यता मान्य है।

(५) वेदान्तसम्मत जीव की परिणामी नित्यता

वेदान्त में ब्रह्मात्मा—परमात्मा को एकांत नित्य माना गया है। किन्तु जीवात्मा के विषय में जो अनेक मन्तव्य हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है। उसके अनुसार शंकराचार्य के मत में जीवात्मा मायिक है, वह अनादिकालीन अज्ञान के कारण अनादि तो है, किन्तु अज्ञान का नाश होने पर वह ब्रह्मैक्य का अनुभव करती है। उस समय जीवभाव नष्ट हो जाता है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि मायिक जीव ब्रह्म रूप में नित्य है और मायारूप में अनित्य।

शंकराचार्य को छोड़कर लगभग समस्त वेदान्ती ब्रह्म का विवर्त न मानकर परिणाम स्वीकार करते हैं, इस दृष्टि से जीवात्मा को परिणामी नित्य कहना चाहिए। जैन व मीमांसकों के परिणामी नित्यवाद तथा वेदान्तियों के परिणामी नित्यवाद में यह अन्तर है कि जैन व मीमांसकों के मत में जीव स्वतंत्र हैं और उनका परिणमन हुआ करता है, किन्तु वेदान्तियों के परिणामी नित्यवाद में जीव और ब्रह्म की अपेक्षा से परिणामवाद की घटना है, अर्थात् ब्रह्म के विविध परिणाम ही जीव हैं।

जीव को सर्वथा नित्य माना जाए अथवा अनित्य, किन्तु

दार्शनिकों ने अपनी अपनी पद्धति से संसार और मोक्ष की उपपत्ति तो की ही है। इससे नित्य मानने वालों के मत में उसकी सर्वथा एकरूपता और अनित्य मानने वालों के मत में उसका सर्वथा भेद स्थिर नहीं रह सकता। अतः संसार और मोक्ष की कल्पना के साथ परिणामी नित्यवाद अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जैन, मीमांसक और वेदान्त के शंकरव्यतिरिक्त टीकाकारों ने इसी वाद को मान्यता दी है।

जीव का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व

आत्मवादी समस्त दर्शनों ने भोक्तृत्व तो स्वीकार किया ही है, किंतु कर्तृत्व के विषय में केवल सांख्य का मत दूसरों से भिन्न है। उसके अनुसार आत्मा कर्त्ता नहीं किन्तु भोक्ता है और यह भोक्तृत्व भी औपचारिक है।[1]

(१) उपनिषदों का मत

उपनिषदों में जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि यह जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्त्ता है और किए हुए कर्मों का भोक्ता[2] भी है। वहां यह भी बताया गया है कि जीव वस्तुतः न स्त्री है, न पुरुष और नही नपुंसक। अपने कर्मों के अनुसार वह जिस शरीर को धारण करता है, उससे उसका संबंध हो जाता है। शरीर की वृद्धि और जन्म—संकल्प, विषय के स्पर्श, दृष्टिमोह, अन्न और जल से—होते हैं। देह युक्त जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीरों

---

[1] इस वाद के सदृश उपनिषदो में भी कथन है—मैत्रायणी २.१०-११; सांख्य का० १९

[2] श्वेताश्वतर ५.७.

को भिन्न भिन्न स्थानों में क्रम पूर्वक प्राप्त करता है और वह कर्म तथा शरीर के गुणानुसार प्रत्येक जन्म में पृथक् पृथक् भी दृष्टि-गोचर होता है।[१] बृहदारण्यक के निम्नलिखित वाक्य भी जीवात्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्रकट करते हैं:—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' (३.२.१३) 'शुभ काम करने वाला शुभ बनता है और अशुभ कार्य करने वाला अशुभ'। "यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।" (४.४.५) मनुष्य जैसे काम व आचरण करता है, वैसा ही वह बन जाता है। अच्छे काम करने वाला अच्छा बनता है और बुरे काम करने वाला बुरा। पुण्य कार्य से पुण्यशाली और पाप कर्म से पापी बनता है। इसी लिए कहा है कि मनुष्य कामनाओं का बना हुआ है। जैसी उसकी कामना होती है, उसीके अनुसार वह निश्चय करता है, जैसा निश्चय करता है वैसा ही काम करता है और जैसे काम करता है वैसे ही फल पाता है।

किंतु यह जीवात्मा जिस ब्रह्म या परमात्मा का अंश है, उसे उपनिषदों में अकर्ता और अभोक्ता कहा गया है। उसे केवल अपनी लीला का द्रष्टा माना गया है। यह बात इस कथन से स्पष्ट हो जाती है:—'यह आत्मा मानो शरीर के वश होकर अथवा शुभाशुभ कर्म के बंधनों में बद्ध होकर भिन्न भिन्न शरीरों में संचार करता है। किंतु वस्तुतः देखा जाए तो यह अव्यक्त, सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य और ममता रहित है। अतः वह सब अवस्थाओं से शून्य है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह कर्तृत्व से विहीन होकर भी कर्तृरूप में

---

[१] श्वेताश्वतर ५.१०—१२

दिखाई देता है। यह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, आसक्तिरहित, दुःखरहित, इच्छारहित, द्रष्टा के समान है और अपने कर्मों का भोग करते हुए दृग्गोचर होता है। उसी प्रकार तीन गुणरूपी वस्त्र से अपने स्वरूप को आच्छादित किए हुए ज्ञात होता है।"[1]

(२) दार्शनिकों का मत

उपनिषदों के उक्त परमात्मा के वर्णन को निरीश्वर सांख्यों ने पुरुष में स्वीकार किया है और परमात्मा की तरह जीवात्मा पुरुष को अकर्ता और अभोक्ता माना है। सांख्यमत में पुरुष व्यतिरिक्त किसी परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं था। अतः परमात्मा के धर्मों का पुरुष में आरोप कर और पुरुष को अकर्ता व अभोक्ता कह कर उसे मात्र द्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया।

इसके विपरीत नैयायिक-वैशेषिक ने आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों धर्म स्वीकार किए हैं। यही नहीं परमात्मा में भी जगत्कर्तृत्व माना गया है। उपनिषदों ने प्रजापति में जगत्कर्तृत्व स्वीकार किया था,[2] नैयायिक-वैशेषिक ने उसे परमात्मा का धर्म मान लिया।

नैयायिक-वैशेषिक मत में आत्मा एकरूप नित्य है। अतः उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व जैसे क्रमिक धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं? यदि वह कर्ता हो तो कर्ता ही रहेगा और भोक्ता हो तो भोक्ता ही रह सकता है। किंतु एकरूप वस्तु में यह कैसे संभव है कि वह पहले कर्ता हो और फिर भोक्ता? इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिक और वैशेषिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व की यह व्याख्या करते हैं:— "आत्मद्रव्य के नित्य होने पर भी उसमें ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न

---

[1] मैत्रायणी २. १०. ११

[2] मैत्रायणी २.६.

का जो समवाय है, उसी का नाम कर्तृत्व है।[1] अर्थात् आत्मा में ज्ञानादि का समवाय संबंध होना ही कर्तृत्व है, दूसरे शब्दों में आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति आत्मा का कर्तृत्व है। आत्मा स्थिर है परन्तु उससे ज्ञान का संबंध होता है और वह नष्ट भी होता है। अर्थात् ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न व नष्ट होता है, आत्मा पूर्ववत् स्थिर ही रहती है। इसी प्रकार उन्होंने भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण किया है:—"सुख और दुःख के संवेदन का समवाय होना भोक्तृत्व है।"[2] आत्मा में सुख और दुःख का जो अनुभव होता है, उसे भोक्तृत्व कहते हैं। यह अनुभव भी ज्ञानरूप होता है, अतः वह आत्मा में उत्पन्न और नष्ट होता है। फिर भी आत्मा विकृत नहीं होती। उत्पत्ति और विनाश अनुभव के हैं, आत्मा के नहीं। क्योंकि इस अनुभव का समवाय संबंध आत्मा से होता है, अतः आत्मा भोक्ता कहलाती है। उस संबंध के नष्ट हो जाने पर वह भोक्ता नहीं रहती। इस मत में द्रव्य और गुण में भेद है। अतः गुण में उत्पत्ति विनाश होने पर भी द्रव्य नित्य रह सकता है। इससे विपरीत जैन आदि जो दर्शन जीव को परिणामी मानते हैं, उन सबके मत में आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होने के कारण उसमें सर्वदा एकरूपता नहीं हो सकती। वही आत्मा कर्तृरूप में परिणत होकर फिर भोक्तारूप में परिणत हो जाती है। यद्यपि कर्तृरूप परिणाम और भोक्तृरूप परिणाम भिन्न भिन्न हैं, तथापि दोनों में आत्मा का अन्वय है। अतः एक ही आत्मा कर्ता और भोक्ता कहलाती है। इसी बात को नैयायिक इस ढंग से कहते हैं कि एक ही आत्मा में वस्तुज्ञान का पहले समवाय होता है अतः

---

[1] 'ज्ञानचिकीर्षा प्रयत्नानां समवाय कर्तृत्वम्' न्यायवार्तिक ३.१.६; न्यायमंजरी पृ० ४६९.

[2] सुखदुःखसंवित्समवायो भोक्तृत्वम्—न्यायवा० ३.१.६

उसे कर्ता कहते हैं और उसी आत्मा में बाद में सुखादि के संवेदन का समवाय होता है, अतः उसे भोक्ता कहते हैं।

(३) बौद्ध मत

अनात्मवादी—अशाश्वतात्मवादी बौद्ध भी पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके मत में नाम-रूप का समुदाय पुद्गल या जीव है। एक नाम-रूप से दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम-रूप ने कर्म किया, वह तो नष्ट हो जाता है, किंतु उससे दूसरे नाम-रूप की उत्पत्ति होती है और वह पूर्वोक्त कर्म का भोक्ता होता है। इस प्रकार संतति की अपेक्षा से पुद्गल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाए जाते हैं।

काश्यप ने संयुत्त निकाय में भगवान् बुद्ध से इस विषय में चर्चा की है। उसने भगवान् से पूछा, 'दुःख स्वकृत है? परकृत है? स्वपरकृत है? या अस्वपरकृत है?' इन सब प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने नकारात्मक दिया। तब काश्यप ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे इसका स्पष्टीकरण करें। भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि दुःख स्वकृत है, इस कथन का अर्थ यह होगा कि जिसने किया, वही उसे भोगेगा। किंतु इससे आत्मा को शाश्वत मानना पड़ेगा। यदि दुःख को स्वकृत न मानकर परकृत माना जाए—अर्थात् कर्म का कर्त्ता कोई और है तथा भोक्ता अन्य है यह कहा जाए—तो इससे आत्मा का उच्छेद मानना पड़ेगा। किंतु तथागत के लिए शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही अनिष्ट हैं। उसे प्रतीत्यसमुत्पादवाद मान्य है—अर्थात् पूर्व कालीन नाम-रूप था अतः उत्तर कालीन नाम-रूप की उत्पत्ति हुई। दूसरा पहले से उत्पन्न हुआ है अतः पहले द्वारा किए गए कर्म को भोगता[1] है।

---

[1]संयुत्त निकाय १२, १७; १२.२४; विसुद्धिमग्ग १७.१६८–१७४.

यही बात राजा मिलिन्द को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भदन्त नागसेन ने समझायी है। उनमें एक दृष्टान्त यह था:—एक व्यक्ति दीपक जलाकर घास फूस की झोंपड़ी में भोजन करने बैठा। अकस्मात् उस दीपक से झोंपड़ी को आग लग गई। वह आग क्रमशः बढ़ते बढ़ते सारे गांव में फैल गई और उससे सारा गांव जल गया। भोजन करने वाले व्यक्ति के दीपक से केवल झोंपड़ी ही जली थी। किंतु उससे उत्तरोत्तर अग्नियों का जो प्रवाह प्रारंभ हुआ, उसने सारे गांव को भस्म कर दिया। यद्यपि दीपक की अग्नि से परंपरा-बद्ध उत्पन्न होने वाली अन्य अग्नियां भिन्न थीं, तथापि यह माना जाएगा कि दीपक ने गांव जला डाला। अतः दीपक जलाने वाला व्यक्ति अपराधी गिना जाएगा। यही बात पुद्गल के विषय में है। जिस पूर्व पुद्गल ने काम किया, वह पुद्गल चाहे नष्ट हो जाए, किंतु उसी पुद्गल के कारण नये पुद्गल का जन्म होता है और वह फल भोगता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व संतति में सिद्ध हो जाते हैं और कोई कर्म अभुक्त नहीं रहता। जिसने कार्य किया, उसी को संतति की दृष्टि से उसका फल मिल जाता है।[१] बौद्धों की यह कारिका सुप्रसिद्ध है—

'यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संधत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥'[२]

'जिस संतान में कर्म की वासना का पुट दिया जाता है, उसी में ही कपास की लाली के समान फल प्राप्त होता है।'

धम्मपद का निम्न कथन संतति की अपेक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता के अनुसार ही है, अन्यथा नहीं—"जो पाप है, उसे आत्मा ने ही किया है, वह आत्मा से ही उत्पन्न

---

[१] मिलिन्द प्रश्न २. ३१ पृ० ४८, न्यायमंजरी पृ० ४४३.

[२] स्याद्वादमंजरी में उद्धृत कारिका १८; न्यायमजरी पृ० ४४३

हुआ है"।[१] "पाप करने वाले को ही उसका फल भोगना पड़ता है"।[२] "इस संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं जहां चले जाने से मनुष्य पाप के फल से बच जाए[३]" इत्यादि।

बुद्ध ने अपने विषय में कहा है,

'इत एकनवतिकल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥'

आज से पूर्व ९१ वें कल्प में मैंने अपने बल से एक मनुष्य का बध किया था, उस कर्म के विपाक के कारण आज मेरा पाँव घायल हुआ है।' बुद्ध का यह कथन भी शाश्वत आत्मा की अपेक्षा से नहीं, अपि तु संतान की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

बौद्धों के मत के अनुसार कर्तृत्व का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। कुशल अथा अकुशल चित्त की उत्पत्ति ही कुशल या अकुशल कर्म का कर्तृत्व है। उनके मत में कर्त्ता और क्रिया भिन्न नहीं हैं, वे दोनों एक ही हैं। क्रिया ही कर्ता है और कर्ता ही क्रिया है। चित्त और उसकी उत्पत्ति में कुछ भी भेद नहीं। यही बात भोक्तृत्व के विषय में है। भोग और भोक्ता भिन्न नहीं हैं। दुःखवेदना के रूप में चित्त की उत्पत्ति ही चित्त का भोक्तृत्व है। इसीलिए बुद्धघोष ने कहा है कि कर्म का कोई कर्त्ता नहीं और विपाक का कोई अनुभव करने वाला (वेदक) नहीं केवल शुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति होती है।[४]

---

[१] अत्तना व कत पाप अत्तज अत्तसभवं—धम्मपद १६१।

[२] धम्मपद ६६

[३] धम्मपद १२७

[४] विसुद्धिमग्ग १९२०। इस विषय पर विशेष विचार 'बुद्ध का अनात्मवाद' इस शिर्षक के अन्तर्गत किया गया है। और भी 'न्यायावतार' टि० पृ० १५२ देखें।

(४) जैन मत

जैन आगमों में भी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन है। उत्तराध्ययन के 'कम्मा णाणाविहा कट्टु' (३-२) अनेक प्रकार के कर्म करके, 'कडाण कम्माण न मोक्खु अत्थि' (४.३; १३.१०) किए हुए कर्म को भोगे विना छुटकारा नहीं, 'कत्तारमेव अणुजाई कम्मं' (१३.२३)—कर्म कर्ता का अनुसरण करता है, इत्यादि वाक्य असंदिग्ध रूपेण जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन करते हैं। किन्तु जिस प्रकार उपनिषदों में जीवात्मा को कर्त्ता और भोक्ता मान कर भी परमात्मा को दोनों से रहित माना गया है, उसी प्रकार जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के कर्मकर्तृत्व और कर्मभोक्तृत्व को व्यवहार दृष्टि से माना है और यह भी स्पष्टीकरण किया है कि निश्चय दृष्टि से जीव कर्म का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं।[1] इस विषय को उपनिषत् की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—संसारी जीव कर्म का कर्ता है, किंतु शुद्ध जीव कर्म का कर्ता नहीं है।

उपनिषदों के मतानुसार भी संसारी आत्मा और परमात्मा एक ही हैं और जैन मत में भी संसारी जीव तथा शुद्ध जीव एक ही हैं। दोनों में यदि भेद है तो वह यही है कि उपनिषदों के अनुसार परमात्मा एक ही है और जैनमत में शुद्ध जीव अनेक हैं। किंतु जैनों द्वारा सम्मत संग्रहनय की अपेक्षा से यह भेद-रेखा भी दूर हो जाती है। संग्रहनय का मत है कि शुद्ध जीव चैतन्य स्वरूप की दृष्टि से एक ही हैं। जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा था कि भविष्य में हम एक सदृश होने वाले हैं, तब निर्वाण अवस्था

---

[1] समयसार ९३, और ९८ से आगे

में अनेक जीवों का अस्तित्व मान कर भी अद्वैत और द्वैत दोनों बहुत निकट हैं ऐसा प्रतीत होता है।[1]

नैयायिक आदि आत्मा को एकांत नित्य मान कर, बौद्ध अनित्य मान कर तथा जैन, मीमांसक और अधिकतर वेदान्ती उसे परिणामी नित्य मानकर उसमें कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि करते हैं। किंतु इन सबके मतानुसार इन दोनों में से किसी का भी अस्तित्व मोक्ष में नहीं है। जब हम इस बात को अपने ध्यान में रखते हैं तब ज्ञात होता है कि सभी दर्शन एक ही उद्देश्य को सन्मुख रख प्रवृत्त हुए हैं और वह है—जीवों को कर्मपाश से कैसे मुक्त किया जाय।

जिस प्रकार नित्यवादियों के समक्ष यह प्रश्न था कि कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उपपत्ति कैसे की जाए, उसी प्रकार यह भी समस्या थी कि नित्य आत्मा में जन्म मरण किस तरह होते हैं। उन्होंने इस समस्या का यह समाधान किया है कि आत्मा के जन्म का तात्पर्य उसकी उत्पत्ति नहीं है। शरीरेन्द्रिय आदि से संबंध का नाम जन्म है और उनसे वियोग का नाम मृत्यु। इस प्रकार आत्मा के नित्य होने पर भी उसमें जन्म मरण होते हैं।[2]

जीव का बंध और मोक्ष

(१) मोक्ष का कारण

जीव के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने वाले सभी भारतीय दर्शनों ने बंध और मोक्ष को स्वीकार किया ही है, परन्तु अनात्मवादी बौद्धों ने भी बंध मोक्ष को मान्यता प्रदान की है। समस्त दर्शनों ने

---

[1] भगवती १४. ७.

[2] न्यायभाष्य १. १. १९., ४. १. १०.; न्यायवा० ३. १. ४; ३. १. १९.

अविद्या-मोह-अज्ञान-मिथ्याज्ञान को बंध अथवा संसार का कारण और विद्या अथवा तत्त्वज्ञान को मोक्ष का हेतु माना है। यह बात भी सर्वसम्मत है कि तृष्णा बंध की कारण भूत अविद्या की सहयोगिनी है, किन्तु मोक्ष के कारण भूत तत्त्वज्ञान के गौण-मुख्य भाव के संबंध में विवाद है। उपनिषदों के ऋषियों ने मुख्यतः तत्त्वज्ञान को कारण माना है और कर्म-उपासना को गौण स्थान दिया है। यह बात बौद्ध दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, शांकर वेदान्त आदि दर्शनों को भी मान्य है। मीमांसा दर्शन के अनुसार कर्म प्रधान है और तत्त्वज्ञान गौण। भक्ति संप्रदाय के मुख्य प्रणेता रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ इन सब के मत में भक्ति ही श्रेष्ठ उपाय है, ज्ञान व कर्म गौण हैं। भास्करानुयायी वेदान्ती और शैव ज्ञान-कर्म के समुच्चय को मोक्ष का कारण मानते हैं और जैन भी ज्ञान-कर्म अर्थात् ज्ञान-चरित्र के समुच्चय को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।

(२) बंध का कारण

समस्त दर्शन इस बात से सहमत हैं कि अनात्मा में आत्माभिमान करना ही मिथ्याज्ञान अथवा मोह है। अनात्मवादी बौद्धों तक यह बात स्वीकार करते हैं। भेद यह है कि आत्मवादियों के मत में आत्मा एक स्वतंत्र, शाश्वत वस्तु रूप में सत् है और पृथ्वी आदि तत्त्वों से निर्मित शरीर से पृथक् है। फिर भी शरीरादि को आत्मा मानने का कारण मिथ्याज्ञान है। किंतु बौद्धों के मत में आत्मा जैसी किसी स्वतंत्र शाश्वत वस्तु का अस्तित्व नहीं है, ऐसा होने पर भी शरीरादि अनात्मा में जो आत्म बुद्धि होती है, वह मिथ्याज्ञान अथवा मोह[१] है। छान्दोग्य[२] में कहा है कि

---

[१] सुत्तनिपात ३. १२. ३३; विसुद्धिमग्ग १७. ३०२.

[२] छान्दोग्य ८. ८. ४—५

अनात्म देहादि को आत्मा मानना असुरों का ज्ञान है और उससे आत्मा परवश हो जाती है। इसी का नाम बंध है। सर्व सारोपनिपद्[1] में तो स्पष्टतः कहा है कि अनात्म देहादि में आत्मत्व का अभिमान करना बंध है और उससे निवृत्ति मोक्ष है। न्याय दर्शन के भाष्य में बताया गया है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है और वह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप ही नहीं है, परन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना और बुद्धि इन सब के अनात्मा होने पर भी इनमें आत्मग्रह अर्थात् अहंकार—यह मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान—मिथ्याज्ञान अथवा मोह है। यह बात वैशेषिकों को भी मान्य[2] है। सांख्य दर्शन में बंध विपयर्य पर आधारित[3] है। और विपयर्य ही मिथ्याज्ञान है[4]। सांख्य मानते हैं कि इस विपर्यय से होने वाला बंध तीन प्रकार का है। प्रकृति को आत्मा मान कर उसकी उपासना करना प्राकृतिक बंध है; भूत, इन्द्रिय, अहंकार, बुद्धि इन विकारों को आत्मा समझ कर उपासना करना वैकारिक बंध है और इष्ट-आपूर्त में संलग्न होना दाक्षिणक वध है।[5] सारांश यह है कि सांख्यों के अनुसार भी अनात्मा में आत्मबुद्धि करना ही मिथ्याज्ञान है। योग दर्शन के अनुसार क्लेश संसार के मूल हैं, अर्थात् बंध के कारण हैं और सब क्लेशों का मूल अविद्या है। सांख्य जिसे विपर्यय कहते हैं, योग[6] दर्शन उसे क्लेश मानता है।

---

[1] 'अनात्मानां देहादीनामात्मत्वेनाभिमान्यते सोऽभिमान आत्मनो वन्धः। तन्निवृत्तिर्मोक्षः।'—सर्वसारोपनिपद्।

[2] न्यायभाष्य ४.२.१; प्रशस्तपाद पृ० ५३८ (विपर्ययनिरूपण)

[3] सांख्य का० ४४

[4] ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम्—माठर वृत्ति ४८.

[5] सांख्यतत्त्वकौमुदी का० ४४

[6] योगदर्शन २. ३; २.४

योगदर्शन में अविद्या का लक्षण है—अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म वस्तु में नित्य, शुचि, शुभ और आत्मबुद्धि करना।[१]

जैन दर्शन में बंधकारण की चर्चा दो प्रकार से की गई है—शास्त्रीय और लौकिक। कर्मशास्त्र में बंध के कारणों की जो चर्चा है, वह शास्त्रीय प्रकार है। वहां कषाय और योग ये दोनों बंध के कारण माने गए हैं। इन का ही विस्तार कर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार और कहीं उनमें प्रमाद को सम्मिलित कर पांच कारण गिनाए गए हैं।[२] इनमें से मिथ्यात्व दूसरे दर्शनों में अविद्या-मिथ्याज्ञान-अज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है।

लोकानुसरण करते हुए जैनागमों में राग, द्वेष और मोह को भी संसार का कारण माना गया।[३] पूर्वोक्त कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। राग और द्वेष इन दोनों में भी उन चारों का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ, तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश है।[४] इस राग व द्वेष के मूल में भी मोह है, यह बात अन्य दार्शनिकों के समान जैनागमों में भी स्वीकार की गई है।[५]

इस प्रकार सब दर्शन इस विषय में सहमत हैं कि मिथ्यात्व-मिथ्याज्ञान-मोह-विपर्यय-अविद्या आदि विविध नामों से विख्यात

---

[१] योगदर्शन २. ५.

[२] तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (प० सुखलाल जी) ८. १.

[३] उत्तराध्ययन २१ १९, २३ ४३; २८. २०; २९ ७१

[४] 'दोहिं ठाणेहि पापकम्मा बधंति···रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णते।···माया य लोभे य। दोसे दुविहे···कोहे य माणे य' स्थानांग २. २.

[५] उत्तरा० ३२. ७

अनात्म में आत्मबुद्धि ही बंध का कारण है। सब की मान्यतानुसार इन कारणों का नाश होने से ही आत्मा में मोक्ष की संभावना है, अन्यथा नहीं। मुमुक्षु के लिए सर्व प्रथम कार्य यही है कि अनात्म में आत्म बुद्धि का निराकरण किया जाए।

(३) बंध क्या है ?

आत्मा या जीवतत्त्व तथा अनात्मा अथवा अजीव तत्त्व ये दोनों भिन्न भिन्न हैं, फिर भी इन दोनों का जो विशिष्ट संयोग होता है, वही बंध है—अर्थात् जीव का शरीर के साथ संयोग ही आत्मा का बंध है। जब तक शरीर का नाश न हो जाए तब तक जीव का सर्वथा मोक्ष नहीं हो सकता। मुक्त जीवों का भी अजीव या जड़ पदार्थों के साथ—पुद्गल परमाणुओं के साथ—संयोग तो है किंतु वह संयोग बंध की कोटि में नहीं आता, क्योंकि मुक्त जीवों में बंध के कारण भूत मोह-अविद्या-मिथ्यात्व का अभाव है। अर्थात् उन का जड़ से संयोग होने पर भी वे इन जड़ पदार्थों को अपने शरीरादि रूप से ग्रहण नहीं करते। किंतु जिस जीव में अविद्या विद्यमान है, वह जड़ पदार्थों को अपने शरीरादि रूप से ग्रहण करता है। अतः जड़ और जीव का विशिष्ट संयोग ही बंध कहलाता है। जीव को मानने वाले सब मतों में सामान्यतः बंध की ऐसी ही व्याख्या है।

आत्मा और अनात्मा इन दोनों का बंध कब से हुआ, इस प्रश्न का विचार कर्मतत्त्व विषयक विचार से संकलित है। उपनिषदों में कर्मतत्त्व विषयक मात्र इस सामान्य विचार का उल्लेख है कि शुभ कर्मों का शुभ तथा अशुभ कर्मों का अशुभ फल मिलता है। किंतु कर्म तत्त्व क्या है, वह अपना फल किस प्रकार देता है, इसका आत्मा के साथ कब संबंध हुआ, इन सब विषयों का विचार

उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के साथ ओतप्रोत हो, यह बात प्राचीन उपनिषदों में दृग्गोचर नहीं होती। यह तथ्य प्राचीन उपनिषदों के किसी भी विद्यार्थी को अज्ञात नहीं है। यह भी विदित होता है कि कर्म संबंधी ये विचार उपनिषद्भिन्न परंपरा से उपनिषदों में आए और औपनिषद तत्त्वज्ञान के साथ उनकी संगति बिठाने का प्रयत्न किया जाता रहा किन्तु वह अधूरा ही रहा। इस विषय में विशेष विचार कर्म विषयक प्रकरण में किया जाएगा। यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि जगत् को ईश्वरकृत मान कर भी न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने संसार को अनादि माना है, और चेतन तथा शरीर के संबंध को भी अनादि ही माना है।[१] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके मत में आत्मा और अनात्मा का बंध अनादि है। किंतु उपनिषद् सम्मत विविध सृष्टिप्रक्रिया में जीव की सत्ता ही सर्वत्र अनादि सिद्ध नहीं होती तो फिर आत्मा और अनात्मा के संबंध को अनादि कहने का अवसर ही कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्म सिद्धान्त के अनुसार तो आत्मा–अनात्मा के संबंध को अनादि मानना अनिवार्य है। यदि ऐसा न माना जाए तो कर्म सिद्धांत की मान्यता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि उपनिषदों के टीकाकारों में शंकर को ब्रह्म और माया का संबंध अनादि मानना पड़ा, भास्कराचार्य के लिए सत्य-रूप उपाधि का ब्रह्म के साथ अनादि संबंध मानने के अतिरिक्त कोई मार्ग न था, रामानुज ने भी बद्ध जीव को अनादि काल से ही बद्ध स्वीकार किया। निम्बार्क और मध्व ने भी अविद्या तथा कर्म के कारण जीव का संसार माना है और यह अविद्या व कर्म भी अनादि हैं। वल्लभ के मतानुसार भी जिस प्रकार ब्रह्म अनादि

---

१ "अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग., अनादिश्च रागानुबन्ध इति" न्याय भा० ३.१.२५; "एवं चानादिः संसारोऽपवर्गान्तः" न्यायवा० ३.१.२७; "अनादि—चेतनस्य शरीरयोगः" न्यायवा० ३.१.२८

है, उसी प्रकार उसका कार्य जीव भी अनादि है। अतः जीव तथा अविद्या का संबंध भी अनादि है।

सांख्य मत में भी प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बंध है और वह अनादि काल से चला आ रहा है। प्रकृतिनिष्पन्न लिंग शरीर अनादि है और वह अनादि काल से ही पुरुष के साथ संबद्ध है।[१] दूसरे दार्शनिकों की मान्यता है कि बंध और मोक्ष पुरुष के होते हैं, परन्तु सांख्य मत में बंध तथा मोक्ष प्रकृति के होते हैं, पुरुष के[२] नहीं।

इसी प्रकार योगदर्शन के मत में भी द्रष्टा—पुरुष और दृश्य—प्रकृति का संयोग अनादि कालीन है, उसे ही बंध समझना चाहिए।[३]

बौद्ध दर्शन में नाम और रूप का अनादि संबंध ही संसार या बंध है और उसका वियोग ही मोक्ष है।

जैन मत में भी जीव और कर्म पुद्गल का अनादि कालीन संबंध बंध है और उसका वियोग मोक्ष।

इस प्रकार सांख्य, जैन, बौद्ध तथा पूर्वोक्त न्यायवैशेपिक आदि सब ने जीव व जड़ के संयोग को अनादि कालीन मान्य किया है और उसी का नाम संसार या बंध है।

जब हम यह कहते हैं कि जीव और शरीर का संबंध अनादि है, तब इस का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि वह परंपरा से अनादि है। जीव नए नए शरीर ग्रहण करता है वह किसी भी समय शरीर रहित नहीं था। पूर्ववर्ती वासना के कारण नए नए

---

१ सांख्यका० ५२

२ ,, ६२

३ योगदर्शन २. १७ योगभाष्य २. १७

शरीर की उत्पत्ति होती है और शरीर के उत्पन्न होने के उपरांत नई नई वासनाओं का जन्म होता है। यह वासना फिर नए शरीर को उत्पन्न करती है। इस प्रकार बीज व अंकुर के समान ये दोनों ही जीव के साथ अनादि काल से हैं। अनादि अविद्या के कारण अनात्मा में जो आत्मग्रहण की बुद्धि है, उसी के कारण बाह्य विषयों में तृष्णा या राग उत्पन्न होता है और इस से ही संसार परंपरा चलती रहती है। अविद्या का निरोध हो जाने पर बंधन कट जाता है और फिर तृष्णा के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। अतः नया उपादान नहीं होता और संसार के मूल पर कुठाराघात हो जाने से वह नष्ट हो जाता है।

साख्यों ने एक लंगड़े और एक अंधे व्यक्ति के लोक-प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध किया है कि संसारचक्र का प्रवर्तन जड़ चेतन इन दोनों के संयोग से होता है। एकाकी पुरुप अथवा प्रकृति में संसार के निर्माण की शक्ति नहीं है। किंतु जिस समय ये दोनों मिलते हैं, उस समय ही संसार की प्रवृत्ति होती है। जब तक पुरुष जड़ प्रकृति को अपनी शक्ति प्रदान नहीं करता, जब तक उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह शरीर इन्द्रिय आदि रूप में परिणत हो सके। उसी प्रकार यदि प्रकृति की जड़ शक्ति पुरुप को प्राप्त न हो तो वह भी अकेले शरीरादि का निर्माण करने में समर्थ नहीं। इन दोनों का संबंध अनादि काल से है, अतः संसारचक्र भी अनादि काल से ही प्रवृत्त हुआ है[1]।

बौद्धों के मतानुसार नाम और रूप के संसर्ग से संसार चक्र अनादि काल से प्रवृत्त हुआ है। विसुद्धिमग्ग के रचयिता बुद्धघोपाचार्य ने भी सांख्य शास्त्रों में प्रसिद्ध इसी लंगड़े और

[1] साख्यकारिका २१

अंधे का दृष्टान्त देकर बताया है कि किस प्रकार नाम और रूप दोनों परस्पर सापेक्ष होकर उत्पन्न व प्रवृत्त होते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि एक दूसरे के बिना दोनों ही निस्तेज हैं और कुछ भी करने में असमर्थ हैं[१]।

जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी रूपक के आधार पर कर्म और जीव के परस्पर बंध और उनकी कार्यकारिता का वर्णन किया है।[२]

वस्तुतः न्याय वैशेषिकादि भी इसी प्रकार यह कह सकते हैं कि जीव तथा जड़ परस्पर मिले हुए हैं और सापेक्ष होकर ही प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण संसाररूपी रथ गतिमान होता है, अन्यथा नहीं। अकेला जड़ अथवा अकेला चेतन संसार का रथ चलाने में समर्थ नहीं। चड़ और चेतन दोनों संसार रूपी रथ के दो चक्र हैं।

मायावादी वेदान्तियों ने अद्वैत ब्रह्म मान कर भी यह स्वीकार किया कि अनीर्वचनीय माया के बिना संसार की घटना अशक्य है, अतः ब्रह्म और माया के योग से ही संसार चक्र की प्रवृत्ति होती है। सभी दर्शनों की सामान्य मान्यता है कि संसारचक्र की प्रवृत्ति दो परस्पर विरोधी प्रकृति वाले तत्त्वों के संसर्ग से होती है। इन दोनों के नामों में भेद हो सकता है किंतु सूक्ष्मता से विचार करने पर तात्त्विक भेद प्रतीत नहीं होता।

(४) मोक्ष का स्वरूप

बंधचर्चा के समय यह बताया गया है कि अनात्मा में आत्माभिमान बंध कहलाता है। इससे यह फलित होता है

---

[१] विसुद्धिमग्ग १८.३५.

[२] समयसार ३४०—३४३.

कि अनात्मा में आत्माभिमान का दूर होना ही मोक्ष है। इस विषय में सभी दार्शनिक एक मत हैं। अब इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि मोक्ष अथवा मुक्त आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का है। सभी दार्शनिकों का मत है कि मोक्षावस्था इन्द्रियग्राह्य नहीं, वचनगोचर नहीं, मनोग्राह्य नहीं तथा तर्कग्राह्य भी नहीं। कठोपनिषद् में स्पष्टरूपेण कहा है कि वाणी, मन अथवा चक्षु से इसकी प्राप्ति संभव नहीं, केवल सूक्ष्मबुद्धि से इसे ग्रहण किया जा सकता[1] है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तर्कप्रपंच सूक्ष्मबुद्धि की कोटी में नहीं आता[2]। तप एवं ध्यान से एकाग्र हुआ विशुद्ध सत्त्व इसे ग्रहण कर सकता है[3]। नागसेन के कथनानुसार बौद्ध मत में भी निर्वाण तो है किंतु उसका स्वरूप ऐसा नहीं जिसे संस्थान, वय और प्रमाण, उपमा, कारण, हेतु अथवा नय से बताया जा सके। जिस प्रकार यह प्रश्न स्थापनीय है—इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता—कि समुद्र में कितना पानी है और उसमें कितने जीव रहते हैं, उसी प्रकार निर्वाण विषयक उक्त प्रश्न का उत्तर देना भी संभव नहीं। लौकिक दृष्टि वाले पुरुष के पास इसे जानने का कोई साधन नहीं[4]। यह न तो चक्षुर्विज्ञान का विषय है, न कान का, न नासिका का, न जिह्वा का और नही स्पर्श का विषय है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि निर्वाण की सत्ता ही नहीं है। वह विशुद्ध मनोविज्ञान का विषय है। इस मनोविज्ञान की विशुद्धता का कारण उसका निरावरण[5]

---

[1] कठ २.६.१२; १.३.१२.

[2] कठ २.८.९.

[3] मुडक ३.१.८.

[4] मिलिन्दप्रश्न ४.८.६६—७, पृ० ३०९

[5] मिलिन्दप्रश्न ४.७.१५, पृ० २६५, उदान ७१.

होना है। उपनिषद् में जिसे विशुद्ध सत्त्व कहा गया है, उसी को नागसेन ने विशुद्ध मनोविज्ञान कहा है। उपनिषदों में ब्रह्मदशा का निरूपण 'नेति नेति' कह कर दिया गया[1] है, और इसी बात को पूर्वोक्त प्रकार से नागसेन ने कहा है। जो वस्तु अनुभव ग्राह्य हो, उसका वर्णन संभव नहीं, और यदि किया भी जाए तो वह अधूरा रह जाता है। अतः श्रेष्ठ मार्ग यही है कि यदि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान करना ही तो स्वयं उसका साक्षात्कार किया जाए। भगवान् महावीर ने भी विशुद्ध आत्मा के विषय में कहा है कि वहां वाणी की पहुंच नहीं, तर्क की गति नहीं, बुद्धि अथवा मति भी वहां पहुंचने में असमर्थ है; यह दीर्घ नहीं ह्रस्व नहीं, त्रिकोण नहीं, कृष्ण नहीं, नील नहीं, स्त्री नहीं और पुरुप भी नहीं। यह उपमारहित है और अनिर्वचनीय है[2]। इस प्रकार भगवान् महावीर ने भी उपनिषदों और बुद्ध के समान 'नेति नेति का ही आश्रय लेकर विशुद्ध अथवा मुक्त आत्मा का वर्णन किया है। इस मुक्तात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव उसी समय होता है जब वह देह मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त करे।

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी दार्शनिकों ने अवर्णनीय के भी वर्णन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हरिभद्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि यद्यपि उन वर्णनों में परिभाषाओं का भेद है, तथापि तत्त्व में कोई अन्तर नहीं। उन्होंने कहा है कि संसारातीत तत्त्व जिसे निर्वाण भी कहते हैं, अनेक नामों से प्रसिद्ध है, किंतु[3] एक ही है। इसी एक तत्त्व के ही सदाशिव

---

[1] वृहदा० ४.५.१५.   [2] आचारांग सू० १७०

[3] संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तद्ध्येकमेव नियमात् शब्दभेदऽपि तत्त्वतः ।। योगदृष्टिसमुच्चय १२९

परमब्रह्म, सिद्धात्मा, तथता आदि नाम चाहे भिन्न भिन्न हों, परन्तु वह तत्त्व एक ही है[1]। इसी बात को आचार्य कुंदकुंद ने भी कहा है। उन्होंने कर्मविमुक्त परमात्मा के पर्याय कहे हैं—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध, परमात्मा। इससे भी ज्ञात होता है कि परम तत्त्व एक ही है, नामों में भेद हो सकता है[2]।

इस प्रकार ध्येय की दृष्टि से निर्वाण में भेद नहीं, किंतु दार्शनिकों ने जब उसका वर्णन किया तब उसमें अन्तर पड़ गया और उस अन्तर का कारण दार्शनिकों की पृथक् पृथक् तत्त्व व्यवस्था है। इस तत्त्व व्यवस्था में जैसा भेद है, वैसा ही निर्वाण के वर्णन में दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। उदाहरणतः न्याय-वैशेषिक आत्मा और उसके ज्ञान सुखादि गुणों को भिन्न भिन्न मानते हैं और आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति को शरीर पर आश्रित मानते हैं। अतः यदि मुक्ति में शरीर का अभाव होता हो तो न्याय-वैशेषिकों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मुक्तात्मा में ज्ञान, सुखादि गुणों का भी अभाव होता है। यही कारण है कि उन्हों ने यह बात मानी कि मुक्ति में आत्मा के ज्ञान, सुखादि गुणों की सत्ता नहीं रहती, केवल विशुद्ध चैतन्य तत्त्व शेष रहता है[3]। इसी का नाम मुक्ति है। जीवात्माको मुक्ति में ज्ञान, सुखादि से रहित मान कर भी उन्होंने ईश्वरात्मा

---

[1] सदाशिवः परंब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वार्थादिकमेवैवमादिभि.॥

योगदृष्टि० १३०, षोडशक १६. १—४

[2] भावप्राभृत १४९.

[3] न्यायभाष्य १. १. २१; न्यायमंजरी पृ. ५०८

को नित्य ज्ञान, सुखादि से युक्त माना[१] है। इस प्रकार आत्मा के स्थान पर परमात्मा में सर्वज्ञता और आत्यन्तिक सुख-आनन्द मानकर न्याय-वैशेषिक भी उन दार्शनिकों की पंक्ति में सम्मिलित हो गए हैं जो मुक्तात्मा को ज्ञान एवं सुखादि से संपन्न मानते हैं।

बौद्धों ने दीपनिर्वाण की उपमा से निर्वाण का वर्णन किया है। इससे एक यह मान्यता प्रचलित हुई कि निर्वाण में चित्त का लोप हो जाता है।[२] निरोध शब्द का व्यवहार ऐसा था जो दार्शनिकों को भ्रम में डाल दे।[३] इससे भी इस मान्यता को समर्थन प्राप्त हुआ कि मुक्ति में कुछ भी शेष नहीं रहता। किन्तु बौद्ध दर्शन पर सम्पूर्णतः विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि वहां भी निर्वाण का स्वरूप वैसा ही बताया गया है जैसा कि उपनिषदों अथवा अन्य दर्शन शास्त्रों में[४]। विश्व के सभी पदार्थ संस्कृत अथवा उत्पत्तिशील हैं, अतः क्षणिक हैं, किंतु निर्वाण अपवाद स्वरूप है। वह असंस्कृत है। उसकी उत्पत्ति में कोई भी हेतु नहीं, अतः उसका विनाश भी नहीं होता। असंस्कृत होने के कारण वह अजात, अभूत अकृत[५] है। संस्कृत अनित्य, अशुभ और दुःखरूप होता है किंतु असंस्कृत ध्रुव, शुभ और

---

१ न्यायमंजरी पृ २००—२०१

२ इसी का खंडन विशेषावश्यक भाष्य के गणधरवाद में किया गया है। गाथा १९७५.

३ निरोध का वास्तविक अर्थ तृष्णाक्षय अथवा विराग है। विसुद्धि मग्ग ८. २४७; १६. ६४;

४ निर्वाण अभावरूप नहीं, इसका समर्थन विसुद्धिमग्ग १६. ३७; में देखें।

५ उदान ७३. विसुद्धि मग्ग १६. ७४;

सुखरूप है।[1] जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को आनन्द की पराकाष्ठा[2] माना गया है, उसी प्रकार निर्वाण का आनन्द भी आनन्द की पराकाष्ठा[3] है। इस तरह बौद्धों के मतानुसार भी निर्वाण में ज्ञान और आनन्द का अस्तित्व है। यह ज्ञान और आनन्द असंस्कृत अथवा अज कहे गए हैं अतः नैयायिकों के ईश्वर के ज्ञान और आनन्द से वस्तुतः इनका कोई भेद नहीं। यही नहीं, प्रत्युत वेदान्त सम्मत ब्रह्म की नित्यता और आनन्दमयता तथा बौद्धों के निर्वाण में भी भेद नहीं है।

सांख्य मत में भी नैयायिकों द्वारा मान्य आत्मा के समान मुक्तावस्था में विशुद्ध चैतन्य ही शेष रहता है। नैयायिक मत में ज्ञान, सुखादि आत्मा के गुण हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति शरीराश्रित है। अतः शरीर के अभाव में उन्होंने जैसे उन गुणों का अभाव स्वीकार किया, वैसे ही सांख्य मत को यह स्वीकार करना पड़ा कि ज्ञान, सुखादि प्राकृतिक धर्म होने के कारण प्रकृति का वियोग होने पर वे मुक्तात्मा में विद्यमान नहीं रहते और पुरुष मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्थिर रहता है। सांख्य मानते हैं कि पुरुष को जब कैवल्य की प्राप्ति होती है तब वह मात्र शुद्ध चैतन्यरूप होता है। गणधर वाद के पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि मुक्तात्मा के विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने की मान्यता के विषय में जहां सांख्य-योग न्याय, वैशेषिक एकमत हैं वहां जैन भी इस मत से सहमत हैं।

इस सामान्य मान्यता के विषय में सब का एकमत है कि मुक्तात्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है। किंतु विचारों

---

[1] उदान ८०; विसुद्धि मग्ग १६. ७१; १६. ९०;

[2] तैत्तरीय २. ८;

[3] मज्झिम निकाय ५७;

में जो किंचित् मतभेद है उसका उल्लेख भी आवश्यक है। उपनिषदों में ब्रह्म को चैतन्य रूप के साथ साथ आनन्द रूप भी माना है। नैयायिकों ने ईश्वर में तो आनन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है किंतु मुक्तात्मा में नहीं। वौद्धों ने निर्वाण में आनन्द की सत्ता स्वीकृत की है। जैनों ने आनन्द के अतिरिक्त नैयायिकों के ईश्वर के समान शक्ति अथवा वीर्य भी माना है। जैनों ने चैतन्य का अर्थ ज्ञान-दर्शन शक्ति किया है किंतु नैयायिक-वैशेषिकमत में मुक्तात्मा में ज्ञान-दर्शन नहीं होते। सांख्यमत में चित् शक्ति पुरुष में है, फिर भी उस में ज्ञान नहीं होता किंतु द्रष्टृत्व होता है। इन सभी मतभेदों का समन्वय असंभव नहीं।

जब हम इस विषय पर विचार करते हैं कि मुक्तात्मा में आनन्द का ज्ञान से पृथक् क्या स्वरूप है, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्द भी ज्ञान की ही एक पर्याय है। जैनाचार्यों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया[1] है। बौद्ध दार्शनिकों ने भी ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न नहीं माना। वेदान्त मत में भी एक अखंड ब्रह्म तत्त्व में ज्ञान, आनन्द, चैतन्य इन सब का वस्तुतः भेद करना अद्वैत के विरोध के समान ही है। नैयायिक चैतन्य और ज्ञान में भेद का वर्णन करते हैं परन्तु जब हम यह देखते हैं कि उन्हों ने नित्य मुक्त ईश्वर में नित्य ज्ञान स्वीकार किया है, तब हमें यह मानना पड़ता है कि वे इस भेद को सर्वथा स्थिर नहीं रख सके। पुनश्च मुक्तात्मा चेतन होकर भी ज्ञान हीन हो, तो इस चैतन्य का स्वरूप भी एक समस्या का रूप धारण कर लेता है। यहां यदि हम याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी के प्रति कहे गए कथन पर कि 'न तस्य प्रेत्य संज्ञा अस्ति'—मृत्यूपरांत उसकी कोई संज्ञा नहीं होती—सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इस का

[1] सर्वार्थसिद्धि १०. ४.

समाधान हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसका नामकरण नहीं किया जा सकता। यदि इसे ज्ञान कहा जाए तो ज्ञान के विषय में साधारण जन का जो विचार है, वही उनके मन में स्थान प्राप्त करेगा—अर्थात् इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा होने वाला ज्ञान। परन्तु मुक्तात्मा में इन साधनों का अभाव होता है अतः उसके ज्ञान को ज्ञान कैसे माना जाए? आत्मा स्वयं प्रतिष्ठित है, वह बाहर क्यों देखे? बहिर्वृत्ति क्यों बने? और यदि आत्मा बहिर्वृत्ति नही होता तो उसे ज्ञानी कहने की अपेक्षा चैतन्यघन कहना अधिक उपयुक्त है। नैयायिकों ने ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है:—आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष होता है, मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रिय का बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की इस व्याख्या के अनुसार यह बात स्वाभाविक है कि नैयायिक मुक्तावस्था में ज्ञान की सत्ता न मानें। अर्थात् उनकी ज्ञान की परिभाषा ही भिन्न है। परिभाषा के भेद के कारण तत्त्व में कुछ भी भेद नहीं पड़ता। अन्यथा नैयायिकों के मत में जड़ पदार्थ और चैतन्य पदार्थ में क्या भेद रह जाएगा? अतः यह बात माननी पड़ेगी कि जड़ से भेद कराने वाला आत्मा में कोई तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर नैयायिकों ने उसे चेतन माना है। उस तत्त्व का नाम चैतन्य है। आत्मा को चेतन मानने के विषय में उनका किसी भी दार्शनिक से मतभेद ही नहीं है। उनकी ज्ञान की परिभाषा अलग है, अतः उन्होंने ज्ञान शब्द से चैतन्य का बोध कराना उचित नही समझा। वेदान्ती जब अधिक सूक्ष्म विचार करने लगे तब वे 'चैतन्य' को चैतन्य शब्द से प्रतिपादित करने के लिए उद्यत न हुए और 'नेति नेति' कह कर उसका वर्णन करने लगे। यह बात लिखी जा चुकी है कि अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा ही किया। भाषा की

शक्ति इतनी सीमित है कि वह परम तत्त्व के स्वरूप का यथार्थ वर्णन कर ही नहीं सकती, क्योंकि विचारकों ने भिन्न भिन्न शब्दों की परिभाषा अनेक प्रकार से की है। अतः उन शब्दों का प्रयोग करने से वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इसके विपरीत कई बार अधिक उलझन पैदा हो जाती है।

मुक्तात्मा में शक्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शक्ति क्या है? इस पर विचार करते हुए आचार्यों ने कहा कि शक्ति के अभाव में अनन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञान में ही उसका समावेश कर लेना चाहिए।[1]

(५) मुक्ति स्थान

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में मुक्ति स्थान की कल्पना अनावश्यक थी। आत्मा जहाँ है, वहीं है, केवल उसका मल दूर हो जाता है, उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। यह भी तो प्रश्न है कि जब वह सर्वव्यापक है तब उसका गमन कहां हो? किंतु जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और जीवात्मा को अणुरूप मानने वाले भक्तिमार्गी वेदान्त दर्शन के सम्मुख मुक्ति स्थान विषयक समस्या का उपस्थित होना स्वाभाविक था। जैनों ने यह बात मानी है कि ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में मुक्तात्मा का गमन होता है और सिद्ध शिला नामक भाग में हमेशा के लिए उसकी स्थिति रहती है। भक्तिमार्गी वेदान्ती मानते हैं कि विष्णु भगवान् के विष्णु लोक में जो ऊर्ध्व लोक है, वहां मुक्त जीवात्मा का गमन होता है और उसे परब्रह्मरूप भगवान् विष्णु का हमेशा के लिए सांनिध्य प्राप्त होता है।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि १०. ४.

बौद्धों ने इस प्रश्न का निराकरण दूसरे प्रकार से किया है। उन के मत में जीव या पुद्गल कोई शाश्वत द्रव्य नहीं। अतः वे पुनर्जन्म के समय एक जीव का अन्यत्र गमन नहीं मानते, किंतु वे एक स्थान में एक चित्त का निरोध और उसकी अपेक्षा से अन्यत्र नए चित्त की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी सिद्धांत के अनुरूप मुक्तचित्त के विषय में भी सिद्धान्त निश्चित किया जाए।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौनसा स्थान है जिस के निकट निर्वाण की स्थिति है। आचार्य ने उत्तर दिया कि निर्वाणस्थान कहीं किसी दिशा में अवस्थित नहीं जहाँ जाकर मुक्तात्मा निवास करे। तो फिर निर्वाण कहाँ प्राप्त होता है? जिस प्रकार समुद्र में रत्न, फूल में गंध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है, उसी प्रकार निर्वाण का भी कोई निश्चित स्थान होना चाहिए। यदि उसका कोई ऐसा स्थान नहीं है तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि निर्वाण भी नहीं है? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा कि निर्वाण का कोई नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं बाहर नहीं है, अपने विशुद्ध मन से इसका साक्षात्कार करना पड़ता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि जलने से पहले अग्नि कहां है, तो उसे अग्नि का स्थान नहीं बताया जा सकता। किन्तु जब दो लकड़ियां मिलती हैं तब अग्नि प्रकट होती है। उसी प्रकार विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है किंतु उसका स्थान बताना शक्य नहीं। यदि यह मान भी लिया जाए कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है, तो भी ऐसा कोई निश्चित स्थान अवश्य होना चाहिए जहाँ अवस्थित रह कर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके। इस प्रश्न के

उत्तर में नागसेन ने कहा कि पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है[1]।

(५) जीवन्मुक्ति-विदेह मुक्ति

आत्मा से मोह दूर हो जाए और वह वीतराग बन जाए तब शरीर तत्काल अलग हो जाता है अथवा नहीं, इस प्रश्न के उत्तर के फलस्वरूप मुक्ति की कल्पना दो प्रकार से की गई—जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति। राग द्वेष का अभाव हो जाने पर भी जब तक आयु कर्म का विपाक—फल पूर्ण न हुआ हो तब तक जीव शरीर में रहता है अथवा उसके साथ शरीर संबद्ध रहता है। किंतु संसार या पुनर्जन्म के कारणभूत अविद्या और राग द्वेष के नष्ट हो जाने पर आत्मा में नए शरीर को ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती। अतः ऐसी आत्मा का प्राणधारणरूप जीवन जारी रहने पर भी वह मोह, राग, द्वेष से मुक्त होने के कारण 'जीवन्मुक्त' कहलाती है। जब उसका शरीर भी पृथक् हो जाता है तब उसे 'विदेह मुक्त' अथवा केवल 'मुक्त' कहते हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि उपनिषदों में जीवन्मुक्ति के उपरांत क्रममुक्ति का सिद्धांत भी प्रतिपादित किया गया है। इस बात का दृष्टान्त कठोपनिषद्[2] से दिया जाता है। उसमें लिखा है कि उत्तरोत्तर उन्नतलोक में आत्मप्रत्यक्ष क्रमशः विशद और विशदतर होता जाता है। इस से ज्ञात होता है कि इस उपनिषद् में क्रममुक्ति का उल्लेख है—अर्थात् आत्मसाक्षात्कार क्रमिक

---

[1] मिलिन्द प्रश्न ४.८.९२—९४.

[2] कठ २.३.५;

होता है। दूसरे दर्शनों में मान्य आत्म विकाश के क्रम की इससे तुलना की जा सकती है। जैनों ने उसे गुणस्थानक्रमारोह कहा है और बौद्धों ने उसे योगच्चर्या की भूमि का नाम दिया है। वैदिक दर्शन में इसी वस्तु को 'भूमिका' कहा गया है।

उपनिषदों में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी उपलब्ध होता है। इसी कठोपनिषद् में आगे जाकर लिखा है कि जब मनुष्य के हृदय में रही हुई सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं तब वह अमर बन जाता है और यहीं ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है; जब यहां हृदय की सभी गांठें टूट जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है।[1]

उपनिषदों के व्याख्याकारों का जीवन्मुक्ति के विषय में एक मत नहीं है। आचार्य शंकर, विज्ञान भिक्षु और वल्लभ इस सिद्धांत को स्वीकार करते हैं किंतु भक्ति मार्ग के अनुयायी अन्य वेदान्ती—रामानुज, निम्बार्क और मध्व इसे नहीं मानते[2]।

बौद्धों के मत में 'सोपादिसेस निर्वाण' और 'अनुपादिसेस निर्वाण' क्रमशः जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति के नाम हैं। उपादि का अर्थ है पांच स्कंध। जब तक ये शेष हों तब तक 'सोपादिसेस निर्वाण' और जब इन स्कंधों का निरोध हो जाए तब 'अनुपादिसेस निर्वाण'[3] होता है।

न्यायवैशेपिक[4] और सांख्ययोग[5] के मत में भी जीवन्मुक्ति संभव मानी गई है।

---

[1] कठ २ ३.१४—१५; मुडक ३ २.६; वृहदा० ४.४.६—७.

[2] प्रो० भट्ट की पूर्वोक्त प्रस्तावना देखे।

[3] विसुद्धि मग्ग १६.७३

[4] न्याय भाष्य ४.२ २.

[5] सांख्य का० ६७; योग भाष्य ४.३०.

जो विचारकगण जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते, उनके मत में आत्मसाक्षात्कार होते ही समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा विदेह होकर मुक्त बन जाती है। इसके विपरीत जो लोग जीवन्मुक्ति मानते हैं, उनकी मान्यतानुसार आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी कर्म अपने समय पर ही फल देकर क्षीण होते हैं, तत्काल नहीं। इस प्रकार आत्मा पहले जीवन्मुक्त बनती है, और फिर कालान्तर में शेष संस्कार क्षीण होने पर विदेह मुक्त।

३—कर्म-विचारणा

कर्म विचार का मूल

यह तो नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल के ऋषियों को मनुष्यों में तथा अन्य अनेक प्रकार के पशु, पक्षी एवं कीट पतंगों में विद्यमान विविधता का अनुभव नहीं हुआ होगा। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा में ढूँढने की अपेक्षा उसे बाह्यतत्त्व में मान कर ही सन्तोष कर लिया था।

किसी ने यह कल्पना की कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक अथवा अनेक भौतिक तत्त्व हैं किंवा प्रजापति जैसा तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। किन्तु इस सृष्टि में विविधता का आधार क्या है, इस के स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया। जीव-सृष्टि के अन्य वर्गों की बात छोड़ भी दें, तो भी केवल मानवसृष्टि में शरीरादि की, सुख-दुःख की, बौद्धिक शक्ति-अशक्ति की जो विविधता है, उसके कारण की शोध की गई हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। वैदिक काल का समस्त तत्त्वज्ञान क्रमशः देव और यज्ञ को केन्द्रबिन्दु बना कर विकसित हुआ। सर्व प्रथम अनेक देवों की और तत्पश्चात् प्रजापति के समान एक देव की कल्पना की गई। सुखी होने के लिए अथवा अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उस देव अथवा उन देवों की स्तुति करे, सजीव अथवा निर्जीव इष्ट वस्तु को यज्ञ कर उसे समर्पित करे। इससे देव सन्तुष्ट होकर मनोकामना पूरी करते हैं। यह मान्यता वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक विकसित होती रही। देवों को प्रसन्न करने के साधन भूत यज्ञ कर्म का क्रमिक विकास हुआ

और धीरे धीरे उसका रूप इतना जटिल हो गया कि यदि साधारण व्यक्ति यज्ञ करना चाहें तो यज्ञ कर्म में निष्णात पुरोहितों की सहायता के बिना इसकी संभावना ही नहीं थी। इस प्रकार वैदिक ब्राह्मणों का समस्त तत्त्वज्ञान देव तथा उसे प्रसन्न करने के साधन यज्ञकर्म की सीमा में विकसित हुआ।

ब्राह्मणकाल के पश्चात् रचित उपनिषद् भी वेदों और ब्राह्मणों का अंतिम भाग होने के कारण वैदिक साहित्य के ही अंग हैं और उन्हें 'वेदान्त' कहते हैं। किंतु इनसे पता चलता है कि वेद परंपरा अर्थात् देव तथा यज्ञ परंपरा का अंत निकट ही था। इन में ऐसे नवीन विचार उपलब्ध होते हैं जो वेद व ब्राह्मण ग्रंथों में नहीं थे। उनमें संसार और कर्म—अदृष्ट-विषयक नूतन विचार भी दृग्गोचर होते हैं। ये विचार वैदिक परंपरा के उपनिषदों में कहाँ से आए, इनका उद्भव विकास के नियमानुसार वैदिक विचारों से ही हुआ अथवा अवैदिक परंपरा के विचारकों से वैदिक विचारकों ने इन्हें ग्रहण किया—इन बातों का निर्णय आधुनिक विद्वान् अभी तक नहीं कर सके। किंतु यह बात निश्चित है कि वैदिक साहित्य में सर्व प्रथम उपनिषदों में ही इन विचारों का दर्शन होता है। आधुनिक विद्वानों में इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि उपनिषदों के पूर्व कालीन वैदिक साहित्य में संसार और कर्म— अदृष्ट की कल्पना का स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता। कर्म कारण है ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्व सम्मत वाद हो यह भी नहीं कहा जा सकता[1]। अतः इसे वैदिक विचार धारा का मौलिक विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्वेताश्वतर[2] उपनिषद् में

---

[1] Hiriyanna: Outlines of Indian Philosophy p. 80. Belvelkar: History of Indian Philosophy II. p. 82.

[2] श्वेताश्वतर १. २।

जहाँ अनेक कारणों का उल्लेख किया है वहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, अथवा पुरुष अथवा इन सब के संयोग का प्रतिपादन है। कालादि को कारण मानने वाले वैदिक हों या अवैदिक, किंतु इन कारणों में भी कर्म का समावेश नहीं है।

अब इस बात की शोध करना शेष है कि जब उपनिषद् काल में भी वैदिक परंपरा में कर्म या अदृष्ट सर्वमान्य केन्द्रस्थ तत्त्व नहीं था तब वैदिक परंपरा में इस विचार का आयात कौनसी परंपरा से हुआ ? कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ये विचार भारत के आदिवासियों (Primitive people) से ग्रहण किए[1]। प्रोफ़ेसर हिरियन्ना ने इस मान्यता का निराकरण यह लिख कर किया है कि आदिवासियों का यह सिद्धांत कि आत्मा मर कर वनस्पति आदि में जाता है—अंधविश्वास (Superstition) था। तत्त्वतः उन के इस विचार को तर्काश्रित नहीं कहा जा सकता। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का लक्ष्य तो मनुष्य की तार्किक और नैतिक चेतना को सन्तुष्ट करना है।

आदिवासियों की यह मान्यता कि मनुष्य का जीव मर कर वनस्पति आदि के रूप में जन्म लेता है, केवल अंधविश्वास कह कर निराकृत नहीं की जा सकती। उपनिषदों से पहले जिस कर्मवाद के सिद्धान्त को वैदिक देववाद से विकसित नहीं किया जा सका, उस कर्मवाद का मूल आदिवासियों की पूर्वोक्त मान्यता से सरलतया संबद्ध है। इस तथ्य की प्रतीति उस समय होती है जब हम जैनधर्म सम्मत जीववाद और कर्मवाद के गहन मूल को ढूंढने का प्रयास करते हैं। जैनपरंपरा का प्राचीन नाम कुछ भी हो, किन्तु यह बात निश्चित है कि वह उपनिषदों से स्वतंत्र और प्राचीन है।

---

[1] इसके उल्लेख और निराकरण के लिए देखें—Hiriyanna: Outlines of Indian Philosophy p. 79.

अतः यह मानना निराधार है कि उपनिषदों में प्रस्फुटित होने वाले कर्मवाद विषयक नवीन विचार जैनसम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं। जो वैदिक परंपरा देवों के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती थी, वह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को हस्तगत कर यह मानने लगी कि फल देने की शक्ति देवों में नहीं प्रत्युत स्वयं यज्ञ कर्म में है। वैदिकों ने देवों के स्थान पर यज्ञकर्म को आसीन कर दिया। देव और कुछ नहीं, वेद के मंत्र ही देव हैं। इस यज्ञ कर्म के समर्थन में ही अपने को कृतकृत्य मानने वाली दार्शनिक काल की मीमांसक विचारधारा ने तो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना कर वैदिक दर्शन में देवों के स्थान पर अदृष्ट-कर्म—का ही साम्राज्य स्थापित कर दिया।

यदि इस समस्त इतिहास को दृष्टिसम्मुख रखें तो वैदिकों पर जैन परम्परा के कर्मवाद का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है।

वैदिक परंपरा में मान्य वेद और उपनिषदों तक की सृष्टिप्रक्रिया के अनुसार जड़ और चेतन सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया था कि वह सृष्टि किसी एक या किन्हीं अनेक जड़ अथवा चेतन तत्त्वों से उत्पन्न हुई है। इससे विपरीत कर्म सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जड़ अथवा जीव सृष्टि अनादि-काल से चली आ रही है। यह मान्यता जैन परंपरा के मूल में ही विद्यमान है। उसके अनुसार किसी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती जब जड़ और चेतन का अस्तित्व—कर्मानुसारी अस्तित्व न रहा हो। यही नहीं, उपनिषदों के अनन्तरकालीन समस्त वैदिक मतों में भी संसारी जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्मतत्त्व की मान्यता की ही देन है। कर्म तत्त्व की कुंजी इस सूत्र से प्राप्त होती है कि जन्म का कारण कर्म है। इसी सिद्धान्त के आधार पर संसार के अनादि

होने की कल्पना की गई है। अनादि संसार के जिस सिद्धान्त को बाद में सभी वैदिक दर्शनों ने स्वीकार किया, वह इन दर्शनों की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन एवं बौद्ध परंपरा में विद्यमान था। किंतु वेद अथवा उपनिषदों में इसे सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया। इससे पता चलता है कि इस सिद्धान्त का मूल वेदबाह्य परंपरा में है। यह वेदेतर परंपरा भारत में आर्यों के आगमन से पहले के निवासियों की हो सकती है और उनकी इन मान्यताओं का ही संपूर्ण विकास वर्तमान जैन परंपरा में संभव है।

जैन परंपरा प्राचीन काल से ही कर्मवादी है, उसमें देववाद को कभी भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। अतः कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन ग्रंथों में दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक जीवों के उन्नत और अवनत जितने भी प्रकार संभव हैं, और एक ही जीव की, आध्यात्मिक दृष्टि से संसार की निकृष्टतम अवस्था से लेकर उस के विकास के जितने भी सोपान हैं, उन सब में कर्म का क्या प्रभाव है तथा इस दृष्टि से कर्म की कैसी विविधता है, इन सब बातों का प्राचीनकाल से ही विस्तृत शास्त्रीय निरूपण जैसा जैन शास्त्रों में है, वैसा अन्यत्र दृग्गोचर होना शक्य नहीं। इससे स्पष्ट है कि कर्म विचार का विकास जैन परम्परा में हुआ है और इसी परम्परा में उसे व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के इन विचारों के स्फुलिंग अन्यत्र पहुंचे और उसी के कारण दूसरों की विचारधारा में भी नूतन तेज प्रकट हुआ।

वैदिक विचारक यज्ञ की क्रिया के चारों ओर ही समस्त विचारणा का आयोजन करते हैं। जैसे उनकी मौलिक विचारणा का स्तम्भ यज्ञ क्रिया है, वैसे ही जैन विद्वानों की समस्त विचारणा कर्म पर आधारित है। अतः उन की मौलिक विचारणा की नींव कर्मवाद है।

जब वेदवादी ब्राह्मणों का कर्मवादियों से संपर्क हुआ, तब देववाद के स्थान पर तत्काल ही कर्मवाद को आरूढ़ नहीं किया गया होगा। जिस प्रकार पहले आत्मविद्या को गूढ़ एवं एकांत में विचार करने योग्य माना गया था, उसी प्रकार कर्मविद्या को रहस्यपूर्ण और एकान्त में मननीय स्वीकार किया गया होगा। जिस प्रकार आत्मविद्या के कारण यज्ञों से लोगों की श्रद्धा हटने लगी थी, उसी प्रकार कर्मविद्या के कारण देवों संबंधी श्रद्धा भी क्षीण होने लगी। इसी प्रकार के किसी कारणवश याज्ञवल्क्य जैसे दार्शनिक आर्तभाग को एकान्त में ले जाते हैं और उसे कर्म का रहस्य समझाते हैं। उस समय कर्म की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि पुण्य करने से मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और पाप करने से निकृष्ट[1]।

वैदिक परम्परा में यज्ञकर्म तथा देव दोनों की मान्यता थी। जब देव की अपेक्षा कर्म का महत्त्व अधिक माना जाने लगा, तब यज्ञ का समर्थन करने वालोंने यज्ञ और कर्मवाद का समन्वय कर यज्ञ को ही देव बना दिया और वे यह मानने लगे कि यज्ञ ही कर्म हैं तथा इसी से सब फल मिलते हैं। दार्शनिक व्यवस्था काल में इन लोगों की परम्परा का नाम मीमांसक दर्शन पड़ा। किन्तु वैदिक परंपरा में यज्ञ के विकास के साथ साथ देवों की विचारणा का भी विकास हुआ था। ब्राह्मण काल में प्राचीन अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति को देवाधिदेव माना जाने लगा। जिन लोगों की श्रद्धा इस देवाधिदेव पर अटल रही, उनकी परंपरा में भी कर्मवाद को स्थान प्राप्त हुआ है और उन्होंने भी प्रजापति तथा कर्म-वाद का समन्वय अपने ढंग से किया है। वे मानते हैं कि जीव को अपने कर्मानुसार फल तो मिलता है किंतु इस फल को देने वाला

---

[1] बृहदा० ३-२-१३.

देवाधिदेव ईश्वर है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार उन्हें फल देता है, अपनी इच्छा से नहीं। इस समन्वय को स्वीकार करने वाले वैदिक दर्शनों में न्यायवैशेषिक, वेदान्त और उत्तरकालीन सेश्वर सांख्यदर्शन का समावेश है।

वैदिक परंपरा के लिए अदृष्ट अथवा कर्मविचार नवीन है और वाहर से उसकी आयात हुई है, इस वात का एक प्रमाण यह भी है कि वैदिक लोग पहले आत्मा की शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं को ही कर्म मानते थे। तत्पश्चात् वे यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानों को भी कर्म कहने लगे। किन्तु ये अस्थायी अनुष्ठान स्वयमेव फल कैसे दे सकते हैं? उनका तो उसी समय नाश हो जाता है। अतः किसी माध्यम की कल्पना करनी चाहिए। इस आधार पर मीमांसा दर्शन में 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना की गई। यह कल्पना वेद में अथवा ब्राह्मणों में नहीं है। यह दार्शनिक काल में ही दिखाई देती है। इससे भी सिद्ध होता है कि अपूर्व के समान अदृष्ट पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की मौलिक देन नहीं परन्तु वेदेतर प्रभाव का परिणाम है।

इसी प्रकार वैशेषिक सूत्रकार ने अदृष्ट-धर्माधर्म के विषय में सूत्र में उल्लेख अवश्य किया है किंतु उस अदृष्ट की व्यवस्था उसके टीकाकारों ने ही की है। वैशेषिक सूत्रकार ने यह नहीं बताया कि अदृष्ट-धर्माधर्म क्या वस्तु है, इसीलिए प्रशस्तपाद को उसकी व्यवस्था करनी पड़ी और उन्होंने उसका समावेश गुणपदार्थ में किया। सूत्रकार ने अदृष्ट को स्पष्टतः गुणरूपेण प्रतिपादित नहीं किया। फिर भी इसे आत्मा का गुण क्यों माना जाए, इस बात का स्पष्टीकरण प्रशस्तपाद ने किया[1] है। इससे प्रमाणित होता है कि वैशेषिकों की पदार्थ व्यवस्था में अदृष्ट एक नवीन तत्त्व है।

---

[1] प्रशस्तपाद पृ० ४७, ६३७, ६४३.

इस प्रकार वैदिकों ने यज्ञ अथवा देवाधिदेव के साथ अदृष्ट-कर्मवाद का समन्वय किया है। किंतु याज्ञिक यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्मों के विषय में विचार नहीं कर सके और ईश्वरवादी भी ईश्वर की सिद्धि के लिए जितनी शक्ति का व्यय करते रहे उतनी वे कर्मवाद के रहस्य का उद्घाटन करने में नहीं लगा सके। अतः कर्मवाद मूलरूप में जिस परंपरा का था, उसी ने उस वाद पर यथाशक्य विचार कर उसकी शास्त्रीय व्यवस्था की। यही कारण है कि कर्म की जैसी शास्त्रीय व्यवस्था जैनशास्त्रों में है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि कर्म-वाद का मूल जैन परंपरा में और उससे पूर्वकालीन आदिवासियों में है।

अब कर्म के स्वरूप का विशेष वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि कर्म के स्थान में जिन विविध कारणों की कल्पना की गई है, उन पर किंचित् विचार कर लिया जाए। उसके बाद उसे सम्मुख रखते हुए कर्म का विवेचन किया जाए।

कालवाद—

विश्वसृष्टि का कोई न कोई कारण होना चाहिए, इस बात का विचार वेदपरंपरा में विविधरूप में हुआ है। किंतु प्राचीन ऋग्वेद से यह प्रगट नहीं होता कि उस समय विश्व की विचित्रता—जीवसृष्टि की विचित्रता के निमित्त कारण पर भी विचार किया गया हो। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर (१. २.) में उपलब्ध होता है। उसमें काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष इनमें से किसी एक को मानने अथवा सब के समुदाय को मानने वाले वादों का प्रतिपादन है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय चिन्तक कारण की खोज में तत्पर हो गए थे और विश्व की विचित्रता की व्याख्या विविध रूप से करते थे। इन वादों में

कालवाद का मूल प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद में एक काल-सूक्त है जिसमें कहा है कि :—

काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही आँखें देखती हैं, काल ही ईश्वर है, वह प्रजापति का भी पिता है, इत्यादि[१]। इसमें काल को सृष्टि का मूल कारण मानने का सिद्धांत है। किंतु महाभारत में मनुष्यों की तो बात क्या, समस्त जीवसृष्टि के सुख दुःख, जीवन मरण इन सब का आधार काल माना गया है। इस प्रकार महाभारत में भी एक ऐसे पक्ष का उल्लेख मिलता है जो काल को विश्व की विचित्रता का मूल कारण मानता था। उसमें यहां तक कहा गया है कि कर्म अथवा यज्ञयागादि अथवा किसी पुरुष द्वारा मनुष्यों को सुख दुःख नहीं मिलता। किंतु मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों में समानरूपेण काल ही कारण है, इत्यादि[२]। प्राचीन काल में काल का इतना महत्त्व होने के कारण ही दार्शनिक काल में नैयायिक आदि चिन्तकों ने यह माना कि अन्य ईश्वरादि कारणों के साथ काल को भी साधारण कारण माना जाए[3]।

स्वभाववाद—

उपनिषद् में स्वभाववाद का उल्लेख है[४]। जो कुछ होता है, वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वर

---

[१] अथर्व वेद १९. ५३–५४

[२] महाभारत शातिपर्व अध्याय २५, २८, ३२, ३३ आदि।

[3] जन्यना जनक. कालो जगतामाश्रयो मत'— न्यायसिद्धातमुक्तावलि का० ४५, कालवाद के निराकरण के लिए शास्त्रवार्तासमुच्चय देखे २५२–९; माठरवृत्ति का० ६१,

[४] श्वेता० १. २।

रूप कोई कारण नहीं, यह बात स्वभाववादी कहा करते थे। बुद्ध चरित में स्वभाववाद का निम्न उल्लेख है :—

"कौन काँटे को तीक्ष्ण करता है ? अथवा पशु पक्षियों की विचित्रता क्यों है ? इन सब बातों की प्रवृत्ति स्वभाव के कारण ही है। इसमें किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न का अवकाश ही नहीं है।[1] गीता और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है।[2] माठर और न्यायकुसुमांजलिकार ने स्वभाववाद[3] का खंडन किया है और अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी स्वभाववाद[4] का निषेध किया है। विशेषावश्यक में भी अनेक बार इस वाद का निराकरण किया गया है।

यदृच्छावाद—

श्वेताश्वतर में यदृच्छावाद को कारण मानने वालों का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि यह वाद भी प्राचीन काल से प्रचलित था। इस वाद का मन्तव्य यह है कि किसी भी नियत कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात्[5] है, अर्थात् किसी भी कारण के बिना।

---

[1] बुद्ध चरित ५२।

[2] गीता ५. १४; महाभारत शांति पर्व २५. १६।

[3] माठर वृत्ति का० ६१; न्याय कुसुमांजलि १. ५।

[4] स्वभाववादके बोधक निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है :—

'नित्यसत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः॥

[5] न्यायभाष्य ३. २. ३१।

महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख[१] है। न्यायसूत्रकार ने इसी वाद का उल्लेख यह लिख कर किया है कि अनिमित्त—निमित्त के बिना ही कांटे की तक्ष्णता के समान भावों की उत्पत्ति होती[२] है। उन्होंने इस वाद का निराकरण भी किया है। अतः अनिमित्तवाद, अकस्मात्वाद और यदृच्छावाद एक ही अर्थ के द्योतक हैं। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं किंतु यह मान्यता ठीक नहीं। इन दोनों में यह भेद है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारणरूप मानते हैं, किंतु यदृच्छावादी कारण की सत्ता से ही इनकार करते हैं।[३]

नियतिवाद

इस वाद का सर्व प्रथम उल्लेख भी श्वेताश्वतर में है। किंतु वहाँ अथवा अन्य उपनिषदों में इस वाद का विशेप विवरण नहीं मिलता। जैनागम और बौद्ध त्रिपिटक में नियतिवाद संबंधी वहुत सी वाते उपलब्ध होती हैं। जब भगवान् बुद्ध ने उपदेश देना आरंभ किया तव नियतिवादी जगह जगह अपने मत का प्रचार कर रहे थे। भगवान् महावीर को भी नियतिवादियों से वादविवाद करना पड़ा था। उन की मान्यता थी कि आत्मा और परलोक का अस्तित्व है, परंतु संसार में दृष्टिगोचर होने वाली जीवों की विचित्रता का कोई भी अन्य कारण नहीं है, सव कुछ एक निश्चित प्रकार से नियत है और नियत रहेगा। सभी जीव नियति चक्र में फँसे हुए हैं। जीव में यह शक्ति नहीं कि इस चक्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सके। यह नियति चक्र

---

[१] महा० शांति पर्व ३३. २३।

[२] न्यायसूत्र ४. १. २२।

[३] प० फणिभूपणकृत न्यायभाष्य का अनुवाद ४. १ २४।

स्वयं ही घूमता रहता है और जीवों को एक नियत क्रम के अनुसार इधर उधर ले जाता है। जब यह चक्र पूर्ण हो जाता है तो जीव स्वतः ही मुक्त हो जाते हैं। ऐसे वाद का प्रादुर्भाव उसी समय होता है जब मानवबुद्धि पराजित हो जाती है।

त्रिपिटक में पूरण काश्यप और मंखली गोशालक[1] के मतों का वर्णन आया है। एक के वाद का नाम 'अक्रियावाद' तथा दूसरे के वाद का नाम 'नियतिवाद' रखा गया है। किंतु इन दोनों में सिद्धान्ततः विशेष भेद नहीं। यही कारण है कि कुछ समय बाद पूरणकाश्यप के अनुयायी आजीवकों अर्थात् गोशालक के अनुयायियों में मिल गये थे।[2] आजीवकों और जैनों में आचार तथा तत्त्वज्ञान संबंधी बहुत सी बातों में समानता थी। किन्तु मुख्य भेद नियतिवाद तथा पुरुषार्थ वाद[3] में था। जैनागमों में ऐसे कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे प्रगट है कि भगवान् महावीर ने अनेक विख्यात नियतिवादियों के मत में परिवर्तन कराया था।[4] संभव है कि धीरे धीरे आजीवक जैन में सम्मिलित हो कर लुप्त हो गए हों। पकुध का मत भी अक्रियावादी है, अतः वह नियतिवाद में समाविष्ट हो जाता है।

सामञ्ञफलसुत्त में गोशालक के नियतिवाद का निम्नलिखित वर्णन है :—

"प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नहीं है, कारण बिना ही वे अपवित्र होते हैं। उनके अपवित्र होने में न कोई

---

[1] दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त

[2] बुद्धचरित (कोशांबी) पृ० १७९।

[3] नियतिवाद का विस्तृत वर्णन 'उत्थान' महावीरांक में देखें—पृ० ७४।

[4] उपासक दशांग अ० ७

कारण है, न हेतु। प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नहीं है। हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य के वल पर कुछ नहीं होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है। न वल है, न वीर्य न ही पुरुप की शक्ति अथवा पराक्रम। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव अवश हैं, दुर्बल हैं, वीर्यविहीन हैं। उनमें नियति, जाति, वैशिष्ट्य और स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। छः जातियों में से किसी भी एक जाति में रह कर सब दुखों का उपभोग किया जाता है। ८४ लाख महाकल्प के चक्र में घूमने के बाद वुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के ही दुःख का नाश हो जाता है। यदि कोई कहे कि 'मैं शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूँगा, अथवा परिपक्व हुए कर्मों का भोग कर उन्हें नामशेप कर दूँगा' तो ऐसी वात कभी भी होने वाली नहीं। इस संसार में सुख दुःख इस प्रकार अवस्थित हैं कि उन्हें परिमित पाली से नापा जा सकता है। उनमें वृद्धि या हानि नही हो सकती। जिस प्रकार सूत की गोली उतनी ही दूर जाती है जितना लंवा उसमें धागा होता है उसी प्रकार वुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के दुःख—संसार का नाश परिवर्त में पड़कर ही होता है।"[१]

इसी प्रकार का ही किन्तु जरा आकर्पक ढंग का वर्णन जैनों के उपासक[२]दशांग और भगवती[३] सूत्र में है। इनके अतिरिक्त सूत्रकृतांग[४] में भी अनेक स्थलों पर इस वाद के संबंध में ज्ञातव्य वातें लिखी हैं।

---

[१] वुद्ध चरित पृ० १७१ (कोशावी)

[२] अध्ययन ६ व ७।

[३] शतक १५।

[४] २. १. १२; २. ६।

बौद्ध पिटक में पकुध कात्यायन के मत का वर्णन निम्नप्रकारेण किया गया है :—"सात पदार्थ एसे हैं जो किसी ने बनाए नहीं, बनवाए नहीं। उनका न तो निर्माण किया गया और न कराया गया। वे वन्ध्य हैं, कूटस्थ हैं और स्तम्भ के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं और एक दूसरे के लिए त्रासदायक नहीं। वे एक दूसरे के दुःख को, सुख को या दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकते। वे सात तत्त्व ये हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीव। इनका नाश करने वाला, करवाने वाला, इनको सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नहीं है।" यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी के मस्तक का छेदन करता है तो वह उसके जीवन का हरण नहीं करता। इस से केवल यह समझना चाहिये कि इन सात पदार्थों के अन्तःस्थित स्थल में शस्त्रों का प्रवेश[1] हुआ! पकुध के इस मत को नियतिवाद ही कहना चाहिए।

त्रिपिटक में अक्रियावादी पूरणकाश्यप के मत का वर्णन इन शब्दों में किया गया है :—"किसी ने कुछ भी किया हो अथवा कराया हो, काटा हो या कटवाया हो, त्रास दिया हो या दिलवाया हो, प्राणी का बध किया हो, चोरी की हो, घर में सेंध लगाई हो, डाका डाला हो, व्यभिचार किया हो, झूठ बोला हो, तो भी उसे पाप नहीं लगता! यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण धार वाले चक्र से पृथ्वी पर मांस का बड़ा भारी ढेर लगा दे तो भी इसमें लेश-मात्र पाप नहीं। गंगा नदी के दक्षिण तट पर जाकर कोई मारपीट करे, कतल करे या कराए, त्रास दे या दिलाए तो भी रत्ती भर पाप नहीं। गंगा नदी के उत्तर तट पर जाकर कोई दान करे या

---

[1] सामञ्ञफलसुत्त दीघनिकाय २, बुद्ध चरित पृ० १७३।

कराए, यज्ञ करे या कराए, तो इसमें कुछ भी पुण्य नहीं होता।[1] जैन सूत्रकृतांग[2] में भी अक्रियावाद का ऐसा ही वर्णन है। पूरण का यह अक्रियावाद भी नियतिवाद के तुल्य है।

अज्ञानवादी

हम संजय वेलट्ठीपुत्र के मत को न तो नास्तिक कह सकते हैं और नही उसे आस्तिक कोटि में रखा जा सकता है। वस्तुतः उसे तार्किक श्रेणी में रखना चाहिए। उसने परलोक, देव, नारक, कर्म, निर्वाण जैसे अदृश्य पदार्थों के विपय में स्पष्टरूप से घोषणा की कि इनके संबंध में विधिरूप, निपेध रूप, उभय रूप अथवा अनुभय रूप निर्णन करना शक्य ही नहीं।[3] जिस समय ऐसे अदृश्य पदार्थों के विपय में अनेक कल्पनाओं का साम्राज्य स्थापित हो रहा हो, तब एक ओर नास्तिक उनका निषेध करते हैं और दूसरी ओर विचारशील पुरुष दोनों पक्षों के बलाबल पर विचार करने में तत्पर हो जाते हैं। इस विचारणा की एक भूमिका ऐसी भी होती है जहां मनुष्य किसी बात को निश्चत रूप से मानने अथवा प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं होता। उस समय या तो वह संशयवादी बन कर प्रत्येक विषय में सन्देह करने लग जाता है अथवा वह अज्ञानवाद की ओर झुक जाता है और कहने लगता है कि सभी पदार्थों का ज्ञान संभव ही नहीं। ऐसे अज्ञानवादियों के विषय में जैनागमों में कहा है कि ये अज्ञानवादी तर्ककुशल होते हैं परन्तु असंबद्ध प्रलाप करते हैं, उनकी अपनी

---

[1] बुद्धचरित पृ० १७०, दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त।

[2] सूत्रकृतांग १. १. १. १३।

[3] बुद्ध चरित पृ० १७८, इस मत के विरुद्ध भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की योजना द्वारा वस्तु का अनेक रूपेण वर्णन किया। न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखें—पृ० ३९ से आगे।

शंकाओं का ही निवारण नहीं हुआ है। वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञजनों में मिथ्या प्रचार करते हैं।[१]

कालादि का समन्वय

जिस प्रकार वैदिक दार्शनिकों ने वैदिक परंपरा सम्मत यज्ञकर्म और देवाधिदेव के साथ पूर्वोक्त प्रकार से कर्म का समन्वय किया, उसी प्रकार जैनाचार्यों ने जैनपरंपरा के दार्शनिक काल में कर्म के साथ कालादि कारणों के समन्वय करने का प्रयत्न किया। किसी भी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर आश्रित नहीं, परन्तु उसका आधार कारण सामग्री पर है। इस सिद्धांत के बल पर जैनाचार्यों ने कहा कि केवल कर्म ही कारण नहीं है, कालादि भी सहकारी कारण हैं। इस प्रकार सामग्रीवाद के आधार पर कर्म और कालादि का समन्वय हुआ।

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस बात को मिथ्या धारणा माना है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणों की अवहेलना की जाए। उनके मतानुसार सम्यक् धारणा यह है कि कार्य निष्पत्ति में उक्त पांचों कारणों का समन्वय किया जाए।[२] आचार्य हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्तासमुच्चय में इसी बात का समर्थन किया[३] है। इससे ज्ञात होता है कि जैन भी

---

[१] सूत्रकृताग १. १२. २; महावीर स्वामिनो संयम धर्म (गु०) पृ० १३५, सूत्रकृतागं चूर्णि पृ० २५५. इसका विशेष वर्णन Creative Period मे देखे—पृ० ४५४।

[२] कालो सहाव णियई पुव्वकम्म पुरिसकारणेगता।
मिच्छत्तं तं चेव उ समासओ हुति सम्मत्त॥

[३] शास्त्रवार्ता० २. ७९–८०।

कर्म को एकमात्र कारण नहीं मानते, परन्तु गौणमुख्य भाव की अपेक्षा से कालादि सभी कारणों को मानते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि दैव-कर्म और पुरुषार्थ के विषय में एकान्त दृष्टि का त्याग कर अनेकान्त दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए। जहां मनुष्य ने बुद्धिपूर्वक प्रयत्न न किया हो और उसे इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो, वहां मुख्यतः दैव को मानना चाहिए क्योंकि यहां पुरुष प्रयत्न गौण है और दैव प्रधान है। वे दोनों एक दूसरे के सहायक बन कर ही कार्य को पूर्ण करते हैं। परन्तु जहां बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति हो, वहां अपने पुरुपार्थ को प्रधानता प्रदान करनी चाहिए और दैव अथवा कर्म को गौण मानना चाहिए। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने दैव और पुरुषार्थ का समन्वय किया[1] है।

कर्म का स्वरूप

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है और वेदों से लेकर ब्राह्मणकाल तक वैदिक परंपरा में इसका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। इस परंपरा में यज्ञयागादि नित्य नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गई है। यह माना जाता था कि इन कर्मों का आचरण देवों को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है और देव इन्हें करने वाले व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण करते हैं। जैन परंपरा को कर्म का क्रियारूप अर्थ मान्य है, किंतु जैन इसका केवल यही अर्थ स्वीकार नही करते। संसारी जीव की प्रत्येक क्रिया अथवा प्रवृत्ति तो कर्म है ही, कितु जैन परिभाषा में इसे भाव कर्म कहते हैं। इसी भाव कर्म अर्थात् जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव द्रव्य-पुद्गल द्रव्य आत्मा के संसर्ग में आ कर आत्मा को बंधन में

---

[1] आप्तमीमांसा का० ८८-९१।

बांध देता है, उसे द्रव्य कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म पुद्गल द्रव्य है, उसकी कर्म संज्ञा औपचारिक है। क्योंकि वह आत्मा की क्रिया या उसके कर्म से उत्पन्न होता है, अतः उसे भी कर्म कहते हैं। कार्य में कारण का उपचार किया गया है। अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार कर्म दो प्रकार का है। भाव कर्म और द्रव्य कर्म। जीव की क्रिया भावकर्म है और उसका फल द्रव्य कर्म। इन दोनों में कार्यकारणभाव है। भावकर्म कारण है और द्रव्यकर्म कार्य। किंतु यह कार्यकारणभाव मुर्गी और उसके अंडे के कार्यकारणभाव के सदृश है। मुर्गी से अंडा होता है, अतः मुर्गी कारण है और अंडा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि पहले मुर्गी थी या अंडा, तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह तथ्य है कि अंडा मुर्गी से होता है, परन्तु मुर्गी भी अंडे से ही उत्पन्न हुई है। अतः दोनों में कार्यकारणभाव तो है परन्तु दोनों में पहले कौन, यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्यकारणभाव अनादि है। इसी प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है, अतः भावकर्म को कारण और द्रव्यकर्म को कार्य माना जाता है। किंतु द्रव्यकर्म के अभाव में भावकर्म की निष्पत्ति नहीं होती। अतः द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है। इस प्रकार मुर्गी और अंडे के समान भावकर्म और द्रव्यकर्म का पारस्परिक अनादि कार्यकारणभाव भी संतति की अपेक्षा से है।

यद्यपि संतति के दृष्टिकोण से भावकर्म और द्रव्यकर्म का कार्यकारणभाव अनादि है, तथापि व्यक्तिशः विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी एक द्रव्यकर्म का कारण कोई एक भावकर्म ही होता होगा, अतः उनमें पूर्वापरभाव का निश्चय किया जा सकता है। कारण यह है कि जिस एक भावकर्म से किसी विशेष द्रव्यकर्म की उत्पत्ति हुई है, वह उस द्रव्यकर्म का कारण है और वह द्रव्यकर्म

उस भावकर्म का कार्य है, कारण नहीं। इस प्रकार हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्तिशः पूर्वापरभाव होने पर भी जाति की अपेक्षा से पूर्वापरभाव का अभाव होने के कारण दोनों ही अनादि हैं।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह तो स्पष्ट है कि भाव-कर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है क्योंकि अपने राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों के कारण ही जीव द्रव्यकर्म के बंधन में बद्ध होता है अथवा संसार में परिभ्रमण करता है। किन्तु भाव-कर्म की उत्पत्ति में भी द्रव्यकर्म को कारण क्यों माना जाए ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि यदि द्रव्यकर्म के अभाव में भी भावकर्म की उत्पत्ति संभव हो तो मुक्त जीवों में भी भावकर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हें फिर संसार में आना होगा। फिर संसार और मोक्ष में कुछ भी अन्तर न रह जाएगा। जैसी बंध-योग्यता संसारी जीव की है, वैसी ही मुक्त जीव में माननी पड़ेगी। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्नशील होगा ? अतः हमें स्वीकार करना होगा कि मुक्त जीव में द्रव्यकर्म न होने के कारण भावकर्म भी नहीं हैं। और द्रव्यकम के होने के कारण ही संसारी जीव में भावकर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की अनादि काल से उत्पत्ति होने के कारण जीव के लिए संसार अनादि है।

द्रव्यकर्म की उत्पत्ति भाव कर्म से होती है, अतः द्रव्यकर्म भावकर्म का कार्य है, ऐसा इन दोनों में जो कार्यकारणभाव है उसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। मिट्टी का पिण्ड घटाकार में परिणत होता है, इसलिए मिट्टी को उपादान कारण माना जाता है। किन्तु कुम्हार न हो तो मिट्टी में घटरूप बनने की योग्यता होने पर भी घट नहीं बन सकता। अतः कुम्हार निमत्त

कारण है। इसी प्रकार पुद्‌गल में कर्मरूप में परिणत होने का सामर्थ्य है अतः पुद्‌गल द्रव्यकर्म का उपादान कारण है। किंतु जब तक जीव में भावकर्म की सत्ता न हो पुद्‌गल द्रव्य कर्मरूप में परिणत नहीं हो सकता। इसलिए भावकर्म निमित्त कारण है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म भी भावकर्म का निमित्त कारण है। अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्यकारणभाव उपादानोपादेय रूप न होकर निमित्तनैमित्तिक रूप है।

संसारी आत्मा की प्रवृत्ति अथवा क्रिया को भावकर्म कहते हैं। किंतु प्रश्न यह है कि उसकी कौन सी क्रिया को भावकर्म कहना चाहिए? क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय आत्मा के आभ्यंतर परिणाम हैं, यही भाव कर्म हैं। अथया राग, द्वेष, मोह रूप आत्मा के आभ्यंतर परिणाम भावकर्म हैं। संसारी आत्मा सदैव शरीर सहित होती है, अतः मन, वचन, काय के अवलंबन के विना उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं। आत्मा के कपायरूप अथवा रागद्वेपमोहरूप आभ्यंतर परिणामों का आविर्भाव मन, वचन, काय की प्रवृत्ति द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संसारी आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जिसे योग भी कहते हैं, रागद्वेपमोह अथवा कपाय के रंग से रंजित होती है। वस्तुतः प्रवृत्ति एक ही है; परन्तु जैसे कपड़े और उस के रंग को भिन्न भिन्न भी कहते हैं, वैसे ही आत्मा की इस प्रवृत्ति के भी दो नाम हैं:—योग और कपाय। रंग से हीन कोरा कपड़ा एकरूप ही होता है, इसी प्रकार कषाय के रंग से विहीन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति एक रूप होती है। कपड़े का रंग कभी हलका और कभी गहरा होता है। इसी तरह योग व्यापार के साथ कपाय के रंग की उपस्थिति में भावकर्म कभी तीव्र होता है कभी मन्द। रंग रहित वस्त्र छोटा या वड़ा हो सकता है, कपाय के रंग से हीन योगव्यापार

भी न्यूनाधिक हो सकता है। किंतु रंग के कारण होने वाली चमक की तीव्रता अथवा मन्दता का उसमें अभाव होता है। इसलिये योग व्यापार की अपेक्षा रंग प्रदान करने वाले कषाय का महत्त्व अधिक है। अतः कषाय को ही भावकर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म के बंध में योग एवं कषाय[1] दोनों को ही साधारणतः निमित्त कारण माना गया है, तथापि कषाय को ही भावकर्म मानने का कारण यही है।

सारांश यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार कषाय अथवा राग द्वेष मोह[2] ये दोष भाव कर्म हैं; इनसे द्रव्य कर्म को ग्रहण कर जीव बद्ध होते हैं।

नैयायिक-वैशेषिकों का मत—

अन्य दार्शनिकों ने इसी बात को दूसरे नामों से स्वीकार किया है। नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह रूप इन तीन दोषों को माना है। इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों के मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से धर्म व अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म व अधर्म को उन्होंने 'संस्कार'[3] कहा है। नैयायिकों ने जिन राग, द्वेष, मोहरूप तीन दोषों का उल्लेख किया है, वे जैनों को मान्य हैं और जैन उन्हें भाव कर्म कहते हैं।

---

[1] "जोगा पयडिपएस ठिइअणुभाग कसायाओ" पचमकर्मग्रंथ गा० ९६।

[2] उत्तराध्ययन ३२ ७, ३० १०, तत्त्वार्थ ८.२; स्थानांग २ २, समयसार ९४, ९६, १०९, १७७, प्रवचन सार १ ८४, ८८।

[3] न्यायभाष्य १. १. २; न्यायसूत्र ४. १. ३—९; न्यायसूत्र १. १ १७; न्याय मंजरी पृ० ४७१, ४७२, ५०० इत्यादि।

"एवं च क्षणभंगित्वात् सस्कारद्वारिकः स्थित ।
स कर्मजन्यसस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते।" न्यायमजरी पृ० ४७२

नैयायिक जिसे दोषजन्य प्रवृत्ति कहते हैं, उसे ही जैन योग कहते हैं। नैयायिकों ने प्रवृत्ति जन्य धर्माधर्म को संस्कार अथवा अदृष्ट की संज्ञा प्रदान की है, जैनों में पौद्गलिक कर्म अथवा द्रव्य कर्म का वही स्थान है। नैयायिक मत में धर्माधर्म रूप संस्कार आत्मा का गुण है। किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस मत में गुण व गुणी का भेद होने से केवल आत्मा ही चेतन है, उसका गुण संस्कार चेतन नहीं कहला सकता क्योंकि संस्कार में चैतन्य का समवाय संबंध नहीं। जैन सम्मत द्रव्य कर्म भी अचेतन है। अतः संस्कार कहें या द्रव्य कर्म, दोनों अचेतन हैं। दोनों मतों में भेद इतना ही है कि संस्कार एक गुण है जब कि द्रव्यकर्म पुद्गल द्रव्य है। गहन विचार करने पर यह भेद भी तुच्छ प्रतीत होता है। जैन यह मानते हैं कि द्रव्यकर्म भावकर्म से उत्पन्न होते हैं। नैयायिक भी संस्कार की उत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं। भाव कर्म ने द्रव्यकर्म को उत्पन्न किया, इस मान्यता का अर्थ यह नहीं है कि भाव कर्म ने पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न किया। जैनों के मत के अनुसार पुद्गल द्रव्य तो अनादि काल से विद्यमान है। अतः उपर्युक्त मान्यता का भावार्थ यही है कि भाव कर्म ने पुद्गल का कुछ ऐसा संस्कार किया जिसके फलस्वरूप वह पुद्गल कर्मरूप में परिणत हुआ। इस प्रकार भाव कर्म के कारण पुद्गल में जो विशेष संस्कार हुआ, वही जैन मत में वास्तविक कर्म है। यह संस्कार पुद्गल द्रव्य से अभिन्न है, अतः इसे पुद्गल कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में नैयायिकों के संस्कार एवं जैन सम्मत द्रव्य कर्म में विशेष भेद नहीं रह जाता।

जैनों ने स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर भी माना है। उसे वे कार्मण शरीर कहते हैं। इसी कार्मण शरीर के कारण स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। नैयायिक कार्मण शरीर को

'अव्यक्त शरीर' भी कहते[1] हैं। जैन कार्मण शरीर को अतीन्द्रिय मानते हैं, इसलिए वह अव्यक्त ही है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता नैयायिकों के समान है। प्रशस्तपाद ने जिन २४ गुणों का प्रतिपादन किया है, उनमें अदृष्ट भी एक है। यह गुण संस्कार गुण से भिन्न[2] है। उसके दो भेद हैं धर्म और अधर्म। इससे ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद धर्माधर्म का उल्लेख संस्कार शब्द से न कर अदृष्ट शब्द से करते हैं। इसे मान्यता भेद न मानकर केवल नाम भेद समझना चाहिए। क्योंकि नैयायिकों के संस्कार के समान प्रशस्तपाद ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी दोष से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोप और फिर दोप से संस्कार एवं जन्म, यह परंपरा बीज और अंकुर के समान अनादि मानी है। यह जैनों द्वारा मान्य भाव कर्म और द्रव्य कर्म की पूर्वोक्त अनादि परंपरा जैसी ही है।[3]

योग और सांख्य का मत

योग दर्शन की कर्म प्रक्रिया की जैनदर्शन से अत्यधिक समानता है। योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं। इन पांच क्लेशों के कारण क्लिष्टवृत्ति–

---

[1] "द्वे शरीरस्य प्रकृती व्यक्ता च अव्यक्ता च, तत्र अव्यक्तायाः कर्म-समाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षय। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति इति उपपन्नोऽपवर्ग।" न्यायवार्तिक ३ २ ६८

[2] प्रशस्तपाद भाष्य पृ०, ४७, ६३७, ६४३,

[3] न्यायमजरी पृ० ५१३;

चित्तव्यापार की उत्पत्ति होती है और उससे धर्म अधर्म रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्लेशों को भावकर्म, वृत्ति को योग और संस्कार को द्रव्यकर्म समझा जा सकता है। योगदर्शन में संस्कार को वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा गया है। पुनश्च इस मत में क्लेश और कर्म का कार्यकारणभाव जैनों के समान बीजाङ्कुर की तरह अनादि माना गया[1] है

जैन और योगप्रक्रिया में अन्तर यह है कि योगदर्शन की प्रक्रियानुसार क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार इन सब का संबंध आत्मा से नहीं अपितु चित्त अथवा अन्तःकरण के साथ है, और यह अन्तःकरण प्रकृति का विकार–परिणाम है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सांख्य मान्यता भी योग-दर्शन जैसी ही है। परन्तु सांख्यकारिका व उसकी माठरवृत्ति तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी में बंध-मोक्ष की चर्चा के समय जिस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, उसकी जैनदर्शन की कर्म संबंधी मान्यता से जो समानता है, वह विशेषरूपेण ज्ञातव्य है। यह भेद ध्यान में रखना चाहिए कि सांख्य मतानुसार पुरुष कूटस्थ है और अपरिणामी है परन्तु जैन मतानुसार वह परिणामी है। क्योंकि सांख्यों ने आत्मा को कूटस्थ स्वीकार किया अतः उन्होंने संसार एवं मोक्ष भी परिणामी प्रकृति में ही माने। जैनों ने आत्मा के परिणामी होने के कारण ज्ञान, मोह, क्रोध आदि आत्मा में ही स्वीकार किए किंतु सांख्यों ने इन सब भावों को प्रकृति के धर्म माना है। अतः उन्हें यह मानना पड़ा कि उन भावों के कारण बंध मोक्ष आत्मा का–पुरुष का नहीं होता परन्तु प्रकृति का ही होता है। जैन और सांख्य प्रक्रिया में यही भेद है। इस

---

[1] योगदर्शनभाष्य १. ५; २. ३; २. १२; २. १३ तथा उसकी तत्त्ववैशारदी, भास्वती आदि टीकाएँ।

भेद की उपेक्षा करने के पश्चात् यदि जैनों और सांख्यों की संसार एवं मोक्ष विषयक प्रक्रिया की समानता पर विचार किया जाए तो तो ज्ञात होगा कि दोनों की कर्मप्रक्रिया में कुछ भी अन्तर नहीं।

जैन मतानुसार मोह, राग, द्वेष इन सब भावों के कारण अनादि काल से आत्मा के साथ पौद्गलिक कार्मण शरीर का संबंध है। भावों व कार्मणशरीर में बीजाङ्कुरवत् कार्यकारण भाव है। एक की उत्पत्ति में दूसरा कारणरूपेण विद्यमान रहता है, फिर भी अनादिकाल से दोनों ही आत्मा के संसर्ग में हैं। इस बात का निर्णय अशक्य है कि दोनों में प्रथम कौन है। इसी प्रकार सांख्य मत में लिंगशरीर अनादि काल से पुरुष के संसर्ग में है। इस लिंगशरीर की उत्पत्ति राग, द्वेष, मोह जैसे भावों से होती है और भाव तथा लिंगशरीर में भी बीजाङ्कुर के समान ही कार्यकारण[1] भाव है। जैसे जैन औदारिक-स्थूल-शरीर को कार्मण शरीर से पृथक् मानते हैं, वैसे ही सांख्य भी लिंग-सूक्ष्मशरीर को स्थूल शरीर से भिन्न[2] मानते हैं। जैनों के मत में स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर पौद्गलिक हैं, सांख्य मत में ये दोनों ही प्राकृतिक हैं। जैन दोनों शरीरों को पुद्गल का विकार मान कर भी दोनों की वर्गणाओं को भिन्न भिन्न मानते हैं। सांख्यों ने एक को तान्मात्रिक तथा दूसरे को मातापितृ-जन्य माना है। जैनों के मत में मृत्यु के समय औदारिक शरीर अलग हो जाता है और जन्म के समय नवीन उत्पन्न होता है। किंतु कार्मण शरीर मृत्यु के समय एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करता है और इस प्रकार विद्यमान रहता है। सांख्य मान्यता के अनुसार भी मातापितृजन्य स्थूल शरीर मृत्यु के समय

---

[1] साख्य का० ५२ की माठर वृत्ति तथा साख्यतत्त्वकौमुदी।

[2] साख्य का० ३९।

साथ नहीं रहता और जन्म के अवसर पर नया उत्पन्न होता है। किंतु लिंग शरीर क़ायम रहता है और एक जगह से दूसरी जगह गति करता[1] है। जैनों के अनुसार अनादि काल से संबद्ध कार्मणशरीर मोक्ष के समय निवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार सांख्य मत में भी मोक्ष के समय लिंगशरीर की निवृत्ति हो जाती है[2]। जैनों के मत में कार्मण शरीर और रागद्वेष आदि भाव अनादि काल से साथ साथ ही हैं, एक के विना दूसरे का अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार सांख्य मत में लिंगशरीर भी भाव के बिना नहीं होता और भाव लिंगशरीर के बिना नहीं होते[3]। जैन मत में कार्मण शरीर प्रतिघात रहित है, सांख्य मत में लिंग शरीर अव्याहत गति वाला है, उसे कहीं भी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ता[4]। जैनमतानुसार कार्मण शरीर में उपभोग की शक्ति नहीं है, किंतु औदारिक शरीर इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता है। सांख्य मत में भी लिंग शरीर उपभोग[5] रहित है।

यद्यपि सांख्य मत में रागादि भाव प्रकृति के विकार हैं, लिंग शरीर भी प्रकृति का विकार है और अन्य भौतिक पदार्थ भी प्रकृति के ही विकार हैं, तथापि इन सभी विकारों में विद्यमान जातिगत भेद से सांख्य इन्कार नहीं करते। उन्होंने तीन प्रकार के सर्ग माने हैं :—प्रत्ययसर्ग, तान्मात्रिकसर्ग, भौतिक सर्ग। रागद्वेषादि भाव प्रत्ययसर्ग में समाविष्ट[6] हैं और लिंगशरीर तान्मात्रिक[7] सर्ग

---

[1] माठर का० ४४, ४०; योगदर्शन मे भी यह बात मान्य है—योगसूत्र—भाष्य भास्वती २. १३।

[2] माठर वृत्ति ४४।

[3] सांख्य का० ४१।

[4] सांख्य तत्त्वकौ० ४०।

[5] सांख्य का० ४०।

[6] सांख्य का० ४६।

[7] सांख्य तत्त्वकौ० ५२।

में। इसी प्रकार जैनों के मत में रागादि भाव पुद्गल कृत ही हैं, कार्मण शरीर भी पुद्गलकृत है। परन्तु इन दोनों में मौलिक भेद है। भावों का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त पुद्गल जब कि कार्मण शरीर का उपादान पुद्गल है और निमित्त आत्मा। सांख्य मत में प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष संसर्ग के कारण चेतन के समान व्यवहार[१] करती है। इसी प्रकार जैनमत में पुद्गल द्रव्य अचेतन होकर भी जब आत्मसंसर्ग से कर्मरूप में परिणत होता है तब चेतन के सदृश ही व्यवहार करता है। जैनों ने संसारी आत्मा और शरीर आदि जड़ पदार्थों का ऐक्य क्षीर-नीर तुल्य स्वीकार किया है। इसी प्रकार सांख्यों ने पुरुष एवं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों का ऐक्य क्षीरनीर के समान ही माना है[२]।

जैन सम्मत भाव कर्म की तुलना सांख्य सम्मत[3] भावों से, योग की तुलना वृत्ति[४] से, और द्रव्यकर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग शरीर से की जा सकती है। जैन तथा सांख्य दोनों ही कर्मफल अथवा कर्म निष्पत्ति में ईश्वर जैसे किसी कारण को स्वीकार नहीं करते।

जैन मतानुसार आत्मा वस्तुतः मनुष्य, पशु, देव, नारक इत्यादि रूप नहीं है, प्रत्युत आत्माधिष्ठित कार्मण शरीर भिन्न भिन्न स्थानों में जाकर मनुष्य, देव, नारक इत्यादि रूपों का निर्माण करता है। सांख्य मत में भी लिंग शरीर पुरुषाधिष्ठित होकर मनुष्य, देव, तिर्यञ्च रूप भूतसर्ग का निर्माण करता है।[५]"

---

[१] माठर वृत्ति पृ० ९, १४, ३३।

[२] माठर वृत्ति पृ० २९, का० १७।

[3] सांख्य का० ४०

[४] सांख्य का० २८, २९, ३०।

[५] माठर का० ४०, ४४, ५३।

बौद्ध मत—

जैन दर्शन के समान बौद्ध दर्शन में भी यह बात मानी गई है कि जीवों की विचित्रता कर्मकृत[१] है। जैनों के सदृश ही बौद्धों ने भी लोभ (राग), द्वेष और मोह को कर्म की उत्पत्ति का कारण स्वीकार किया है। रागद्वेष और मोह युक्त हो कर प्राणी—सत्त्व मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग, द्वेष, मोह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार संसार चक्र चलता रहता[२] है। इस चक्र का कोई आदि काल नहीं, यह अनादि[३] है। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि जीव द्वारा किए गए कर्मों की स्थिति कहाँ है? आचार्य ने उत्तर दिया कि यह दिखलाया नहीं जा सकता कि कर्म कहाँ रहते[४] हैं। विसुद्धि मग्ग में कर्म को अरूपी कहा गया है (१७.११०), किन्तु अभिधर्मकोष में उस अविज्ञप्ति को रूप कहा है (१.९) और यह रूप सप्रतिघ न हो कर अप्रतिघ है। सौत्रान्तिक मत में कर्म का समावेश अरूप में है। वे अविज्ञप्ति[५] नहीं मानते। इससे ज्ञात होता है कि जैनों के समान बौद्धों ने भी कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भी कर्म कहलाती है किन्तु वह विज्ञप्तिरूप अथवा

---

[१] "भासितं पेत महाराज भगवता—कम्मस्सका माणव, सत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मबन्धू, कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति, यदिदं हीनपणीततायाति" मिलिन्द ३ २; "कर्मज लोक वैचित्र्यं"—अभिधर्म कोष ४. १।

[२] अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र ३३.१. भाग १. पृ०१३४।

[३] सयुत्तनिकाय १५.५.६ (भाग २, पृ० १८१–२)।

[४] "न सक्का महाराज तानि कम्मानि दस्सेतु इध वा इव वा तानि कम्मानि तिट्ठन्तीति"। मिलिन्द प्रश्न ३.१५ पृ० ७५।

[५] नवमी ओरियंटल कॉन्फरं पृ० ६२०।

प्रत्यक्ष है। अर्थात् यहाँ कर्म का अभिप्राय मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं अपितु प्रत्यक्ष कर्म जन्य संस्कार है। बौद्ध परिभाषा में उसे वासना और अविज्ञप्ति कहते हैं। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार—कर्म—को वासना और वचन एवं काय जन्य संस्कार—कर्म—को अविज्ञप्ति[१] कहते हैं।

यदि तुलना करना चाहें तो कह सकते हैं कि बौद्ध सम्मत कर्म के कारणभूत रागद्वेष एवं मोह जैन सम्मत भाव कर्म हैं। मन, वचन, काय का प्रत्यक्ष कर्म जैनमत में मान्य योग है और इस प्रत्यक्ष कर्म से उत्पन्न वासना तथा अविज्ञप्ति द्रव्य कर्म हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से प्रतिपादित करते हैं। प्रज्ञाकर का कथन है कि जितने भी कार्य हैं, वे सब वासना जन्य हैं। ईश्वर हो अथवा कर्म (क्रिया), प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सब का मूल वासना ही है। न्यायी ईश्वर को मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को स्वीकार किए बिना काम नहीं चलता। अर्थात् ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सब नदियों का प्रवाह वासना समुद्र में मिल कर एक हो जाता है।[२]

शून्यवादीमत में माया अथवा अनादि अविद्या का ही दूसरा नाम वासना है।

वेदान्त मत में भी विश्व वैचित्र्य का कारण अनादि अविद्या अथवा माया है।[3]

---

[१] अभिधर्मकोष चतुर्थ परिच्छेद; Keith Buddhist Philosophy p. 203

[२] प्रामाणवार्तिकालंकार पृ० ७५—न्यायावतारवार्तिकवत्ति की टिप्पणी पृ० १७७-८ मे उद्धृत।

[3] ब्रह्मसूत्र—शाकरभाष्य २.१.१४।

मीमांसकों का मत—

मीमांसकों ने यागादिकर्मजन्य अपूर्व नाम के एक पदार्थ की सत्ता स्वीकार[१] की है। वे यह युक्ति देते हैं:—मनुष्य जो कुछ अनुष्ठान करता है वह क्रिया रूप होने के कारण क्षणिक होता है। अतः उस अनुष्ठान से अपूर्व नामक पदार्थ का जन्म होता है जो यागादि कर्म—अनुष्ठान का फल प्रदान करता है। कुमारिल ने इस अपूर्व पदार्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि अपूर्व का अर्थ है योग्यता। जब तक यागादि कर्म का अनुष्ठान नहीं किया जाता, तब तक वे यागादि कर्म और पुरुष दोनों ही स्वर्गरूप फल उत्पन्न करने में असमर्थ— अयोग्य—होते हैं। परन्तु अनुष्ठान के पश्चात् एक ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे कर्ता को स्वर्ग का फल मिलता है। इस विषय में आग्रह नहीं करना चाहिए कि यह योग्यता पुरुष की है अथवा यज्ञ की। इतना जानना पर्याप्त है कि वह उत्पन्न होती है।[२]

अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य, शक्ति कहते हैं, उसे मीमांसक अपूर्व शब्द के प्रयोग से व्यक्त करते हैं। परन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि वेदविहित कर्म से जिस संस्कार अथवा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी को अपूर्व कहना चाहिए, अन्य कर्मजन्य संस्कार अपूर्व[३] नहीं हैं।

मीमांसक यह भी[४] मानते हैं कि अपूर्व अथवा शक्ति का आश्रय आत्मा है और आत्मा के समान अपूर्व भी अमूर्त[५] है।

---

[१] शावर भाष्य २.१.५, तंत्रवार्तिक २.१.५; शास्त्रदीपिका पृ० ८०

[२] ' कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा सा ऽपूर्वमिष्यते ॥" तन्त्रवा० २.१ १५.

[३] तन्त्रवार्तिक पृ० ३९५—६.

[४] तंत्रवा० पृ० ३९८; शास्त्रदीपिका पृ० ८०. [५] तन्त्रवा०पृ० ३९८.

मीमांसकों के इस अपूर्व की तुलना जैनों के भाव कर्म से इस दृष्टि से की जा सकती है कि दोनों को अमूर्त माना[1] गया है। किन्तु वस्तुतः अपूर्व जैनों के द्रव्यकर्म के स्थान पर है। मीमांसक इस क्रम को मानते हैं:—कामनाजन्य कर्म—यागादि प्रवृत्ति और यागादि प्रवृत्तिजन्य अपूर्व। अतः कामना या तृष्णा को भावकर्म, यागादि प्रवृत्ति को जैन सम्मत योग—व्यापार और अपूर्व को द्रव्य कर्म कहा जा सकता है। पुनश्च मीमांसकों के मतानुसार अपूर्व एक स्वतंत्र पदार्थ है। अतः यही उचित प्रतीत होता है कि उसे द्रव्य कर्म के स्थान पर माना जाए। यद्यपि द्रव्यकर्म अमूर्त नहीं तथापि अपूर्व के समान अतीन्द्रिय तो है ही।

कुमारिल इस अपूर्व के विषय में भी एकान्त आग्रह नहीं करते। यज्ञफल को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपूर्व का समर्थन तो किया है, किंतु इस कर्मफल की उपपत्ति अपूर्व के बिना भी उन्होंने स्वयं की है। उनका कथन है कि कर्म द्वारा फल ही सूक्ष्म शक्तिरूपेण उत्पन्न हो जाता है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति हठात् नहीं होती। किंतु वह शक्तिरूप में सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म होकर वाद में स्थूल रूप से प्रगट होता है। जिस प्रकार दूध में खटाई मिलाते ही दही नहीं बन जाता, परंतु अनेक प्रकार के सूक्ष्म रूपों को पार कर वह अमुक समय में स्पष्ट रूपेण दही के आकार में व्यक्त होता है, उसी प्रकार यज्ञ कर्म का स्वर्गादि फल अपने सूक्ष्मरूप में तत्काल उत्पन्न होकर बाद में काल का परिपाक होने पर स्थूल रूप से प्रगट[2] होता है।

---

[1] न्यायावतारवार्तिक में मैंने इस दृष्टि से तुलना की है। टिप्पण पृ० १८१.

[2] "सूक्ष्मशक्त्यात्मक वा तत् फलमेवोपजायते"—तन्त्रवा०पृ०३९५,

शंकराचार्य ने मीमांसक सम्मत इस अपूर्व की कल्पना अथवा सूक्ष्मशक्ति की कल्पना का खंडन किया है और यह बात सिद्ध की है कि ईश्वर कर्मानुसार फल प्रदान करता है। उसने इस पक्ष का समर्थन किया है कि फल की प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।[1]

कर्म के स्वरूप की इस विस्तृत विचारणा का सार यही है कि भावकर्म के विषय में किसी भी दार्शनिक को आपत्ति नहीं। सभी के मत में राग, द्वेष और मोह भाव कर्म अथवा कर्म के कारण रूप हैं। जैन जिसे द्रव्यकर्म कहते हैं, उसी को अन्य दार्शनिक कर्म कहते हैं। संस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, माया, अपूर्व इसी के नाम हैं। हम यह देख चुके हैं कि वह पुद्गल द्रव्य है, गुण है, धर्म है अथवा अन्य कोई स्वतंत्र द्रव्य है, इस विषय में दार्शनिकों का मतभेद तो है परन्तु वस्तु के संबंध में विशेष विवाद नहीं। अब हम इस कर्म अथवा द्रव्य कर्म के भेद आदि पर विचार करेंगे।

कर्म के प्रकार

दार्शनिकों ने विविध प्रकार से कर्म के भेद किए हैं परन्तु पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म रूप भेद सभी को मान्य हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म के पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ रूप भेद प्राचीन हैं और कर्म विचारणा के प्रारंभिक काल में ही दो भेद हुए होंगे। प्राणी जिस कर्म के फल को अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य आर जिसके फल को प्रतिकूल समझता है वह पाप। इस प्रकार के भेद उपनिषद्,[2]

---

[1] ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य ३.२.३८–४१.

[2] बृहदारण्यक ३.२.१३; प्रश्न ३.७.

जैन,[१] सांख्य,[२] बौद्ध,[३] योग,[४] न्याय वैशेषिक[५] इन सब दर्शनों में दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी वस्तुतः दर्शनों ने पुण्य एवं पाप इन दोनों कर्मों को बंधन ही माना है और दोनों से मुक्त होना अपना ध्येय निश्चित किया है। अतः विवेक शील व्यक्ति कर्म जन्य अनुकूल वेदना को भी सुख रूप न मान कर दुःख रूप ही स्वीकार करते हैं।

कर्म के पुण्य पाप रूप दो भेद वेदना की दृष्टि से किए गए हैं, किन्तु वेदना के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी कर्म के भेद किए जाते हैं। कर्म को अच्छा और बुरा समझने की दृष्टि को सन्मुख रख कर बौद्ध और योगदर्शन[७] में कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण, तथा अशुक्लाकृष्ण नामक चार भेद किए गए हैं। कृष्ण पाप है, शुक्ल पुण्य, शुक्ल-कृष्ण पुण्य पाप का मिश्रण और अशुक्लाकृष्ण दोनों में से कोई भी नहीं क्योंकि यह कर्म वीतराग पुरुषों का ही होता है। इसका विपाक न सुख है और नहीं दुःख। कारण यह है कि उनमें रागद्वेष नहीं होता।[८]

इसके अतिरिक्त कृत्य, पाकदान और पाककाल की दृष्टि से भी कर्म के भेद किए गए हैं। बौद्धों के अभिधर्म और

---

[१] पचम कर्मग्रथ १५ से तत्त्वार्थ ८.२१

[२] साख्य का. ४४;

[३] विसुद्धिमग्ग १७ ८८

[४] योग सूत्र २.१४; योग भाष्य २.१२,

[५] न्याय मजरी पृ० ४७२, प्रशस्त पाद पृ० ६३७, ६४३,

[६] "परिणामतापसस्कारदुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुखमेव सर्वं विवेकिन"। योग सूत्र २ १५,

[७] योगदर्शन ४.७; दीघनिकाय ३.१.२; बुद्धचर्या पृ० ४९६,

[८] योगदर्शन ४.७।

विशुद्धि मार्ग में समान[1] रूप से कृत्य की दृष्टि से चार, पाकदान की दृष्टि से चार और पाककाल की दृष्टि से चार इस प्रकार बारह प्रकार के कर्म का वर्णन है। किन्तु अभिधर्म में पाकस्थान की दृष्टि से चार भेद अधिक प्रतिपादित किए गए हैं। योगदर्शन[2] में भी इन दृष्टियों के आधार पर कर्म संबंधी सामान्य विचारणा है किंतु गणना बौद्धों से भिन्न है। इन सब बातों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि एक प्रकार से नहीं अपितु अनेक प्रकार से कर्मों के भेद का व्यवस्थित वर्गीकरण जैसा जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

जैनशास्त्रों में कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव की दृष्टि से कर्म के आठ मूल भेदों का वर्णन है :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल भेदों की अनेक उत्तर प्रकृतियों का विविध जीवों की अपेक्षा से विविध प्रकारेण निरूपण भी वहां उपलब्ध होता है। बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि की दृष्टि से किस जीव में कितने कर्म हैं, उनका वर्गीकृत व्यवस्थित प्रतिपादन भी वहां दृष्टिगोचर होता है। यहां इन सब बातों का विस्तार अनावश्यक है। जिज्ञासु उसे अन्यत्र देख सकते हैं।[3]

कर्मबंध का प्रबल कारण

योग और कषाय दोनों ही कर्म बंधन के कारण गिने गए हैं किंतु इन दोनों में प्रबल कारण कषाय ही है। यह एक सर्व

---

[1] अभिधम्मत्थ संग्रह ५.१९ विसुद्धिमग्ग १९. १४—१६. इन भेदो की चर्चा आगे की जाएगी।

[2] योगसूत्र २. १२—१४.।

[3] कर्मग्रंथ १—६; गोमट्टसार—कर्मकाड

सम्मत सिद्धान्त है। किंतु आत्मा के इन कषायों की अभिव्यक्ति मन, वचन और काय से ही होती है। इन तीनों में से किसी एक का आश्रय लिए विना कषायों के व्यक्त होने का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। अतः प्रश्न होता है मन, वचन, काय इन तीनों में कौनसा अवलम्बन प्रबल है ?

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥'

ब्रह्मविन्दु उपनिषद् (२) के उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि मन ही प्रबल कारण है। काय और वचन की प्रवृत्ति में मन सहायक माना गया है। यदि मन का सहयोग न हो तो वचन अथवा काय की प्रवृत्ति अव्यवस्थित होती है। अतः उपनिषत् के अनुसार मन, वचन, काय में मन की ही प्रबलता है। इसी लिए अर्जुन ने कृष्ण को कहा, 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण[1]'। इस चंचल मन को वश में करना सरल नहीं। जब तक इस का सर्वथा क्षय न हो जाए, इसका निरोध जारी रहना चाहिए। जब आत्मा मन का पूर्ण निरोध कर लेती है, तब ही वह परमपद को प्राप्त करती है[2]। जैनों के समान उपनिषदों में इस मन को दो प्रकार का माना गया है, शुद्ध और अशुद्ध। काम या संकल्प रूप मन अशुद्ध है और उससे रहित शुद्ध[3]। अशुद्ध मन संसार का साधन है और शुद्ध मन मोक्ष का। जैन मान्यतानुसार जब तक कषाय का नाश नहीं हो जाता, तब तक अशुद्ध मन विद्यमान रहता है। क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानक नामक बारहवें गुणस्थानक

---

[1] गीता ६ ३४

[2] "तावदेव निरोद्धव्य यावद् हृदि गत क्षयम्।
एतज्ज्ञान च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥" ब्रह्मविन्दु ५.

[3] ब्रह्मविन्दु १.

में और बाद में शुद्ध मन होता है। केवली सर्व प्रथम इसका निरोध करता है और तत्पश्चात् वचन एवं काय का निरोध करता[१] है। इसीसे सिद्ध होता है कि जब तक मनका निरोध नहीं हो जाता तब तक वचन और काय के निरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वचन और काय का संचालक बल मन है। इस बल के समाप्त होने पर वचन और काय निर्बल होकर निरुद्ध हो जाते हैं। अतः मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों में जैनों ने मन की प्रवृत्ति को प्रबल माना है। हिंसा-अहिंसा के विचार में भी काययोग अथवा वचनयोग के स्थान पर मानसिक अध्यवसाय राग तथा द्वेष को ही कर्म बंध का मुख्य कारण माना गया है। इस बात की चर्चा विशेषावश्यक में भी है[२], अतः यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं। ऐसा होने पर भी बौद्धों ने जैनों पर आक्षेप किया है कि जैन कायकर्म अथवा कायदंड को ही महत्त्व प्रदान करते हैं[३]। यह उनका भ्रम है। इस भ्रम का कारण सांप्रदायिक विद्वेष तो है ही, इसके अतिरिक्त जैनों के आचार के नियमों में बाह्याचार पर जो अधिक ज़ोर दिया गया है, वह भी इस भ्रांति का उत्पादक है। जैनों ने इस विषय में बौद्धों का जो खण्डन किया है, उससे भी यह प्रतीति संभव है कि जैन बौद्धों के समान मन को प्रबल कारण नहीं मानते, अन्यथा वे बौद्धों के इस मत का खंडन क्यों करें।[४]

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि जैनों के समान बौद्ध

---

[१] विशेषावश्यक गा० ३०५९—३०६४.

[२] गाथा १७६२–६८

[३] मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त २.२.६.

[४] सुत्रकृताङ्ग १.१.२. २४–३२, २.६ २६–२७ विशेष जानकारी के लिए ज्ञानबिन्दु की प्रस्तावना देखे–पृ० ३०-३५, टिप्पण पृ० ८०-९७

भी मन को ही कर्म का प्रधान कारण मानते हैं। उपालि सुत्त में बौद्धों के इस मन्तव्य का स्पष्ट उल्लेख है। धम्मपद की निम्न लिखित प्रथम गाथा से भी इसी मत की पुष्टि होती है:—

'मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं॥'

ऐसी वस्तुस्थिति में भी बौद्ध टीकाकारों ने हिंसा-अहिंसा की विचारणा करते हुए आगे जाकर जो विवेचन किया, उसमें मन के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों का समावेश कर दिया, अतः इस मूल मन्तव्य के विषय में उनका अन्य दार्शनिकों के साथ जो एकमत था, वह स्थिर नहीं रह सका[1]।

कर्मफल का क्षेत्र

कर्म के नियम की मर्यादा क्या है? अर्थात् यहां इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि जीव और जड़ रूप दोनों प्रकार की सृष्टि में कर्म का नियम संपूर्णतः लागू होता है अथवा उसकी कोई मर्यादा है? काल, ईश्वर, स्वभाव आदि में से एक मात्र को कारण मानने वाले जिस प्रकार समस्त कार्यों में काल या ईश्वरादि को कारण मानते हैं, उसी प्रकार क्या कर्म भी सभी कार्यों की उत्पत्ति में कारणरूप है अथवा उसकी कोई सीमा है? जो वादी केवल एक चेतन तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उनके मत में कर्म, अदृष्ट अथवा माया समस्त कार्यों में साधारण

---

[1] विनय की अट्ठकथा मे प्राणातिपात संबधी विचार देखे। बौद्धो का यह वाक्य भी विचारणीय है.—

"प्राणी, प्राणीज्ञानं घातकचित्त च तद्गता चेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोग पञ्चभिरापद्यते हिंसा॥"

निमित्त कारण है। विश्व की विचित्रता का आधार भी यही है। नैयायिक वैशेषिक केवल एक तत्त्व से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति नहीं मानते, फिर भी वे समस्त कार्यों में कर्म या अदृष्ट को साधारण कारण मानते हैं। अर्थात् जड़ एवं चेतन के समस्त कार्यों में अदृष्ट एक साधारण कारण है। चाहे सृष्टि जड़ चेतन की हो, परन्तु वे यह बात स्वीकार करते हैं कि वह चेतन के प्रयोजन की सिद्धि में सहायक है अतः इसमें चेतन का अदृष्ट निमित्त कारण है।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि कर्म का नियम जड़ सृष्टि में कार्य नहीं करता। यही नहीं, उसके मतानुसार जीवों की सभी प्रकार की वेदना का भी कारण कर्म नहीं है। मिलिन्द प्रश्न में जीवों की वेदना के आठ कारण बताए गए है :—वात, पित्त, कफ, इन तीनों का सन्निपात, ऋतु, विषमाहार, औपक्रमिक और कर्म। जीव इन आठ कारणों में से किसी भी एक कारण के फलस्वरूप वेदना का अनुभव करता है। आचार्य नागसेन ने कहा है कि वेदना के उपर्युक्त आठ कारणों के अस्तित्व में जीवों की सम्पूर्ण वेदना का कारण कर्म को ही मानना मिथ्या है। जीवों की वेदना का अत्यन्त अल्प भाग पूर्वकृत कर्म के फल का परिणाम है, अधिकतर भाग का आधार अन्य कारण हैं। कौन सी वेदना किस कारण का परिणाम है, इस बात का अंतिम निर्णय भगवान् बुद्ध ही कर सकते[1] हैं। जैनमतानुसार भी कर्म का नियम आध्यात्मिक सृष्टि में लागू होता है। भौतिक सृष्टि में यह नियम अकिंचित्कर है। जड़ सृष्टि का निर्माण अपने ही नियमानुसार होता है। जीवसृष्टि में विविधता का कारण कर्म का नियम है। जीवों के मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारकादि विविध रूप; शरीरों की विविधता; जीवों के सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, चरित्र, अचरित्र

---

[1] मिलिन्द प्रश्न ४. १. ६२, पृ० १३७।

आदि कर्म के नियमानुसार हैं। किंतु भूकम्प जैसे भौतिक कार्यों में कर्म के नियम का लेशमात्र भी हस्तक्षेप नहीं। जब हम जैन शास्त्रों में प्रतिपादित कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों तथा उनके विपाक पर विचार करते हैं तो यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है[1]।

कर्मबंध और कर्मफल की प्रक्रिया

जैन शास्त्रों में इस बात का सुव्यवस्थित वर्णन है कि आत्मा में कर्मबंध किस प्रकार होता है और बद्ध कर्मों की फलक्रिया कैसी है। वैदिक परंपरा के ग्रंथों में उपनिषत् तक के साहित्य में इस संबंध में कोई विवरण नहीं। योगदर्शनभाष्य में विशेषरूपसे इसका वर्णन है। अन्य दार्शनिक टीका ग्रथों में इसके संबंध में जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह नगण्य है। अतः यहां इस प्रकिया का वर्णन जैन ग्रंथों के आधार पर ही किया जाएगा। तुलनायोग्य विषयों का निर्देश भी उचित स्थान पर किया जाएगा।

लोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहां कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का अस्तित्व न हो। जब संसारी जीव अपने मन, वचन, काय से कुछ भी प्रवृत्ति करता है, तब कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं के स्कंधों का ग्रहण सभी दिशाओं से होता है। किंतु इसमें क्षेत्रमर्यादा यह है कि जितने प्रदेश में आत्मा होती है, वह उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणुस्कंधों का ग्रहण करती है, दूसरों का नहीं। प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा अधिक

---

[1] छठे कर्मग्रथ के हिन्दी अनुवाद मे प० फूलचद जी की प्रस्तावना देखें—पृ० ४३।

होने पर परमाणुओं की अधिक संख्या का ग्रहण होता है और कम होने पर कम संख्या का। इसे प्रदेश बंध कहते हैं। गृहीत परमाणुओं का भिन्न भिन्न ज्ञानावरण आदि प्रकृतिरूप में परिणत होना प्रकृतिबंध कहलाता है। इस प्रकार जीव के योग के कारण परमाणुस्कंधों के परिमाण और उनकी प्रकृति का निश्चय होता है। इन्हें ही क्रमशः प्रदेश बंध और प्रकृति बंध कहते हैं। तत्त्वतः आत्मा अमूर्त्त है, परन्तु अनादि काल से परमाणु पुद्गल के संपर्क में रहने के कारण वह कथंचित् मूर्त है। आत्मा और कर्म के संबंध का वर्णन दूध एवं जल अथवा लोहे के गोले और अग्नि के संबंध के समान किया गया है। अर्थात् एक दूसरे के प्रदेशो में प्रवेश कर आत्मा और पुद्गल अवस्थित रहते हैं। सांख्यों ने भी यह स्वीकार किया है कि संसारावस्था में पुरुष और प्रकृति का बंध दूध और पानी के सदृश एकीभूत है। नैयायिक और वैशेषिकों ने आत्मा तथा धर्माधर्म का संबंध संयोगमात्र न मान कर समवायरूप माना है। उसका कारण भी यही है कि वे दोनों एकीभूत जैसे ही हैं। उन्हें पृथक् पृथक् कर बताया नहीं जा सकता, केवल लक्षणभेद से पृथक् समझा जा सकता है।

गृहीत परमाणुओं में कर्मविपाक के काल और सुख-दुःख विपाक की तीव्रता-मन्दता का निश्चय आत्मा की प्रवृत्ति अथवा योग व्यापार में कषाय की मात्रा के अनुसार होता है। इन्हें क्रमशः स्थिति बंध और अनुभाग बंध कहते हैं। यदि कषाय की मात्रा न हो तो कर्म परमाणु आत्मा के साथ संबद्ध नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूखी दीवार पर धूल चिपकती नहीं, केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है; उसी प्रकार आत्मा में कषाय की स्निग्धता के अभाव में कर्मपरमाणु उससे संबद्ध नहीं हो सकते। संबद्ध न होने के कारण उनका अनुभाग अथवा विपाक भी नहीं हो सकता। योग दर्शन में भी क्लेशरहित योगी के कर्म को अशुक्ला-

कृष्ण माना गया है। उसका तात्पर्य भी यही है। बौद्धों ने क्रिया चेतना के सद्भाव में अर्हत में कर्म की सत्ता अस्वीकार की है, उसका भावार्थ भी यही है कि वीतराग नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। जैन जिसे ईर्यापथ अथवा असांपरायिक क्रिया मानते हैं, उसे बौद्ध क्रियाचेतना कहते हैं।

कर्म के उक्त चार प्रकार के बँध हो जाने के पश्चात् तत्काल ही कर्मफल मिलना प्रारंभ नहीं हो जाता। कुछ सयय तक फल प्रदान करने की शक्ति का संपादन होता है। चूल्हे पर रखते ही कोई भी चीज़ पक नहीं जाती, जैसी वस्तु हो उसी के अनुसार उसके पकने में समय लगता है। इसी प्रकार विविध कर्मो का पाककाल भी एक जैसा नहीं। कर्म के इस पाक योग्यता-काल को जैन परिभाषा में 'आबाधाकाल' कहते हैं। कर्म के इस आबाधा-काल के व्यतीत होने पर ही कर्म अपना फल देना प्रारंभ करते हैं। इसे ही कर्म का उदय कहते हैं। कर्म की जितनी स्थिति का बंध हुआ हो, उतनी अवधि में कर्म क्रमशः उदय में आते हैं और फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाते हैं। इसे कर्म की निर्जरा कहते हैं। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं, तब जीव मुक्त हो जाता है।

यह कर्मबंधप्रक्रिया और कर्मफलप्रक्रिया की सामान्य रूपरेखा है। यहाँ इनकी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं।

कर्म का कार्य अथवा फल

सामूहिक रूपसे कर्म का कार्य यह है कि जब तक कर्म बंध का अस्तित्व है, तब तक जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त कार्मों की निर्जरा होने पर ही मोक्ष होता है। कर्म की आठ मूल प्रकृतियां ये हैं:—ज्ञानाकरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र।

इनमें से प्रथम चार घाती कहलाती हैं। इसका कारण यह है कि इनसे आत्मा के गुणों का घात होता है। अंतिम चार अघाती हैं। इनसे आत्मा के किसी गुण का घात नहीं होता, परन्तु ये आत्मा को वह स्वरूप प्रदान करते हैं जो उसका वास्तविक नहीं है। सरांश यह है कि घाती कर्म आत्मा के स्वरूप का घात करते हैं और अघाती कर्म उसे वह रूप देते हैं जो उसका निजी नहीं।

ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान गुण का घात करता है और दर्शनावरण दर्शन गुणका। दर्शन मोहनीय से तत्त्वरुचि, आत्म-अनात्म विवेक अथवा सम्यक्त्व गुण का घात होता है और चरित्र मोहनीय से परम सुख अथया सम्यक् चरित्र का। अन्तराय वीर्यादि शक्ति के प्रतिघात का कारण है। इस तरह घाती कर्म आत्मा की विविध शक्तियों का घात करते हैं।

वेदनीय कर्म आत्मा में अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदना के अविर्भाव का कारण है। आयु कर्म द्वारा आत्मा नारकादि विविध भवों की प्राप्ति करता है। जीवों को विविध गति, जाति, शरीर आदि की उपलब्धि नामकर्म के कारण होती है। जीवों में उच्चत्व-नीचत्व गोत्रकर्म के कारण उत्पन्न होता है।

उक्त आठ मूल प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की संख्या बंध की अपेक्षा से १२० है। ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के छब्बीस, आयु के चार, नाम के सतसठ, गोत्र के दो और अंतराय के पांच भेद हैं।

उनका विवरण इस प्रकार है—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पांच ज्ञानावरण हैं। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला

प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि ये नव दर्शनावरण हैं। सात और असात दो प्रकार का वेदनीय होता है। मिथ्यात्व; अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—ये १६ कषाय; स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये तीन वेद; तथा हास्य, रति, अरती, शोक, भय, जुगुप्सा ये छे हास्यादि षट्क, इस प्रकार नव नोकषाय ये सब मिल कर मोहनीय के २६ भेद हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये आयु के चार प्रकार हैं। नाम कर्म के ६७ भेद हैं:—नारक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव ये चार गति; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय ये पांच जाति; औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों के अंगोपांग; वज्रऋषभनाराच संहनन, ऋषभनाराच संहनन, नाराच सं०, अर्धनाराच सं०, कीलिका सं०, सेवार्त सं० ये छे संहनन; समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्ज वामन, हुंड ये छे संस्थान; वर्ण, रस; गंध, स्पर्श ये वर्णादि चार; नारकादि चार आनुपूर्वी; प्रशस्त एवं अप्रशस्त दो विहायोगति; परघात, उच्छ्वास आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थ, निर्माण, उपघात ये आठ प्रत्येक प्रकृति; त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति ये त्रसदशक; और इसके विपरीत स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, असुभग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये स्थावरदशक। गोत्र के दो भेद हैं—उच्च गोत्र, नीच गोत्र। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय ये पांच अन्तराय के भेद हैं।

मिथ्यात्व मोह का ऊपर एक भेद गिना है, यदि उसके तीन भेद गिने जाएँ तो उदय और उदीरणा की अपेक्षा से १२२ प्रकृति होती

हैं। इसका कारण यह है कि बंध तो एक मिथ्यात्व का होता है, किंतु जीव अपने अध्यवसाय द्वारा उसके तीन पुंज कर लेता है— अशुद्ध, अर्ध विशुद्ध और शुद्ध। उन्हें क्रम से मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व कहते हैं। अतः बंध एक होते हुए भी उदय तथा उदीरणा की अपेक्षा से तीन प्रकृतियां गिनी जाती हैं। अतः उदय और उदीरणा की अपेक्षा से १२० के स्थान में १२२ प्रकृतियां हैं। किंतु कर्म की सत्ता की दृष्टि से नाम कर्म के उत्तर भेद ६७ की जगह ९३ माने तो १४८ और १०३ माने तो वे १५८ हो जाती हैं।

ऊपर वर्णन की गई नाम कर्म की ६७ प्रकृतियों में पांच बंधन, पांच संघात ये दस और वर्ण चतुष्क की जगह उसके बीस उपभेद गिनें तो ये १६–इस प्रकार कुल २६ और मिलाने से ९३ भेद होते हैं। यदि पांच बंधन के स्थान में १५ बंधन मानें तो १०३ भेद होते हैं।

इन सब प्रकृतियों का वर्गीकरण पुण्य एवं पाप में किया गया है। इस विषय में विशेषावश्यक में निर्देश है, अतः यहां उसका विवेचन अनावश्यक[1] है।

इस के अतिरिक्त इन के दो विभाग और किए गए हैं, ध्रुव-बंधिनी और अध्रुवबंधिनी। जो प्रकृतियां बंध हेतु के होने पर भी आवश्यक रूपेण बंध में नहीं आतीं उन्हें अध्रुवबंधिनी कहते हैं और जो हेतु के अस्तित्व में अवश्य बद्ध होती हैं उन्हें ध्रुवबंधिनी कहते हैं[2]।

उक्त प्रकृतियों का एक और रीति से भी विभाग किया गया है:—ध्रुवोदया और अध्रुवोदया। जिसका उदय स्वोदयव्यवच्छेद

---

[1] गाथा १९४६.

[2] पंचम कर्मग्रंथ गा० १—४

काल पर्यन्त कभी भी विच्छिन्न नहीं होता, वे ध्रुवोदया और जिनका उदय विच्छिन्न हो जाता है और फिर उदय में आती हैं उन्हें अध्रुवोदया[१] कहते हैं।

सम्यक्त्व आदि गुणों की प्राप्ति होने से पूर्व उक्त प्रकृतियों में से जो प्रकृतियां समस्त संसारी जीवों में विद्यमान होती हैं, उन्हें ध्रुवसत्ताका और जो नियमतः विद्यमान नहीं होतीं, उन्हें, अध्रुवसत्ताका कहते हैं।[२]

उक्त प्रकृतियों के दो विभाग इस प्रकार भी किए जाते हैं:— अन्य प्रकृति के बंध अथवा उदय किंवा इन दोनों को रोक कर जिस प्रकृति का बंध अथवा उदय किंवा दोनों हों, उसे परावर्तमाना और जो इससे विपरीत हो वह अपरावर्तमाना कहलाती है।[३]

उक्त प्रकृतियों में से कुछ ऐसी हैं जिनका उदय उस समय ही होता है जब जीव नवीन शरीर को धारण करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रहा हो। अर्थात् उनका उदय विग्रहगति में ही होता है। ऐसी प्रकृतियों को क्षेत्रविपाकी कहते हैं। कुछ ऐसी प्रकृतियां हैं जिनका विपाक जीव में होता है, उन्हें जीव विपाकी कहते हैं। कुछ प्रकृतियों का विपाक नर-नारकादि भव सापेक्ष है, उन्हें भवविपाकी कहते हैं। कुछ का विपाक जीवसंबद्ध शरीरादि पुद्गलों में होता है, उन्हें पुद्गलविपाकी कहते हैं।[४]

जिस जन्म में कर्म का बंधन हुआ हो उसी में ही उस का भोग हो, यह कोई नियम नहीं है। किन्तु उसी जन्म में

---

[१] पंचम कर्मग्रंथ गाथा ६—७

[२] पंचम कर्म ग्रंथ गा० ८—९

[३] पचम कर्म ग्रथ १८—१९

[४] पचम कर्म ग्रंथ गा० १९—२१.

अथवा अन्य जन्म में किंवा दोनों में कृत कर्म को भोगना पड़ता[1] है।

जैन दृष्टि के आधार पर जिस वस्तु स्थिति का ऊपर वर्णन किया गया है, उसकी तुलना में अन्य ग्रंथों में उपलब्ध मान्यताओं का भी यहां उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है।

योगदर्शन में कर्म का विपाक तीन प्रकार का बताया गया है :-जाति, आयु और भोग[2]। जैन सम्मत नाम कर्म के विपाक की तुलना, योग सम्मत जाति विपाक से, आयुकर्म के विपाक की तुलना आयु विपाक से की जा सकती है। योग दर्शन के अनुसार भोग का अर्थ है—सुख, दुःख और मोह[3]। अतः जैन सम्मत वेदनीय कर्म के विपाक की इस भोग से तुलना संभव है। योग दर्शन में मोह का अर्थ व्यापक है। उस में अप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति दोनों का समावेश है। अतः जैनसम्मत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्म के विपाक योगदर्शन सम्मत मोह के सदृश हैं।

विपाक के संबंध में जैन मत में जैसे प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है वैसे योग दर्शन में नियत नहीं है। योग मत के अनुसार संचित समस्त कर्म मिल कर उक्त जाति, आयु, भोगरूप विपाक का कारण बनते हैं[4]।

---

[1] स्थानागसूत्र ७७. [2] योग दर्शन २. १३.

[3] योग भाष्य २. १३

[4] "तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्र प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थित. प्रायेणाभिव्यक्त. एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरण प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्म करोति तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुपि तेनैव कर्मणा भोग. सपद्यते इति, असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते।" योग भाष्य २. १३

न्यायवार्तिककार ने कर्म के विपाक काल को अनियत वर्णित किया है। यह कोई नियम नहीं कि कर्म का फल इसी लोक में या परलोक में अथवा जात्यन्तर में ही मिलता है। कर्म अपना फल उसी दशा में देते हैं जब सहकारी कारणों का सन्निधान हो तथा सन्निहित कारणों का भी कोई प्रतिबंधक न हो। यह निर्णय करना कठिन है कि यह शर्त कब पूरी हो। इस चर्चा के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि अपने ही विपच्यमान कर्म के अतिशय द्वारा अन्य कर्म की फल शक्ति का प्रतिबंध संभव है। समान भोग वाले अन्य प्राणियों के विपच्यमान कर्म द्वारा भी कर्म की फल शक्ति के प्रतिबंध की संभावना है। ऐसी अनेक संभावनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् वार्तिककार ने लिखा है कि कर्म की गति दुर्विज्ञेय है, मनुष्य इस प्रक्रिया के पार का पता नहीं लगा सकता।[1]

जयंत ने न्यायमंजरी में कहा है कि विहित कर्म के फल का कालनियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कुछ विहित कर्म ऐसे हैं जिनका फल तत्काल मिलता है—जैसे कारीरी यज्ञ का फल वृष्टि, कुछ विहित कर्मों का फल ऐहिक होते हुए भी काल-सापेक्ष है—जैसे पुत्रेष्टि का फल पुत्र। तथा ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्गादि परलोक में ही मिलता है। किंतु सामान्यरूपेण यह नियम निश्चित किया जा सकता है कि निषिद्ध कर्म का फल तो परलोक में ही मिलता है।[2]

योग दर्शन[3] में कर्माशय और वासना में भेद किया गया है। एक जन्म में संचित कर्म को कर्माशय कहते हैं तथा अनेक जन्मों के कर्मों के संस्कार की परंपरा को वासना कहते हैं। कर्माशय का

---

[1] न्यायवा० ३. २. ६१

[2] न्यायमजरी पृ० ५०५, २७५

[3] योगभाष्य २. १३.

विपाक दो प्रकार का है—अदृष्टजन्मवेदनीय और दृष्टजन्म-वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म में मिले वह अदृष्टजन्म-वेदनीय तथा जिसका विपाक इस जन्म में मिल जाए वह दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाता है। विपाक के तीन भेद हैं :—जाति अथवा जन्म, आयु और भोग। अर्थात् अदृष्टजन्मवेदनीय के तीन फल हैं:—नवीन जन्म, उस जन्म की आयु, और उस जन्म का भोग। किंतु दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का विपाक आयु व भोग अथवा केवल भोग है जन्म नहीं। यदि यहां भी जन्म का विपाक स्वीकार किया जाए तो वह अदृष्टजन्मवेदनीय हो जाएगा। नहुष देव था, अर्थात् उसकी देवरूप में जन्म और देवायु दोनों बातें जारी थी। फिर भी कुछ समय के लिए सर्प बन कर उसने दुख का भोग किया और तदन्तर वह पुनः देव बन गया। यह दृष्टजन्मवेदनीय भोग का उदाहरण है। नन्दीश्वर ने मनुष्य होते हुए भी देवायु और देव भोग प्राप्त किए, किंतु उसका मनुष्य जन्म जारी रहा।

वासना का विपाक असंख्य जन्म, आयु और भोग माने गए हैं। कारण यह है कि वासना की परंपरा अनादि है।

जिस प्रकार योग[1] दर्शन में कृष्ण कर्म की अपेक्षा शुक्ल कर्म को अधिक बलवान् माना गया है और कहा गया है कि शुक्ल कर्म का उदय होने पर कृष्ण कर्म फल दिए बिना ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार बौद्धों ने भी अकुशल कर्म की अपेक्षा कुशल कर्म को अधिक बलवान् माना है। किंतु वे कुशल कर्म को अकुशल कर्म का नाशक नहीं मानते, इस लोक में पापी को अनेक प्रकार के दण्ड एवं दुःख भोगने पड़ते हैं और पुण्यशाली को अपने पुण्यकार्यों का फल प्रायः इसी लोक में नहीं मिलता। बौद्धों ने इसका कारण यह बताया है कि पाप परिमित है अतः उसके विपाक का अन्त

[1] योग दर्शन २. १३ पृ० १७१

शीघ्र ही हो जाता है। किंतु कुशल कर्म विपुल है, अतः उसका विपाक दीर्घकाल में होता है। यद्यपि कुशल और अकुशल दोनों का फल परलोक में मिलता है, तथापि अकुशल के अधिक सावद्य होने के कारण उसका फल यहाँ भी मिल जाता[1] है। पाप की अपेक्षा पुण्य विपुलतर क्यों है, इस वात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि पाप करने के पश्चात् मनुष्य को पश्चात्ताप होता है और वह कहता है कि अरे! मैंने पाप किया। इससे पाप की वृद्धि नहीं होती। किंतु शुभ काम करने के बाद मनुष्य को पश्चात्ताप नहीं होता बल्कि प्रमोद—आनन्द होता है। अतः उसका पुण्य उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता[2] है।

बौद्धों के मत में कृत्य के आधार पर कर्म के जो चार भेद किए गए हैं उनमें एक जनक कर्म है और दूसरा उसका उत्थंभक है। जनक कर्म नए जन्म को उत्पन्न कर विपाक प्रदान करता है, किन्तु उत्थंभक अपना विपाक प्रदान न कर दूसरों के विपाक में अनुकूल—सहायक वन जाता है। तीसरा कर्म उपपीड़क है जो दूसरे कर्मों के विपाक में वाधक वन जाता है। चौथा कर्म उपघातक है जो अन्य कर्मों के विपाक का घात कर अपना ही विपाक प्रगट करता[3] है।

पाकदान के क्रम को लक्ष्य में रख कर बौद्धों में कर्म के ये चार प्रकार माने गए हैं—गरुक, वहुल अथवा आचिण्ण, आसन्न तथा अभ्यस्त। इनमें गरुक तथा वहुल दूसरों के विपाक को रोक कर पहले अपना फल प्रदान करते हैं। आसन्न का अर्थ है मृत्यु के समय किया गया। वह भी पूर्व कर्म की अपेक्षा अपना फल

---

[1] मिलिन्द प्रश्न ४ ८ २४–२९, पृ० २८४.

[2] मिलिन्द प्रश्न ३.३६.

[3] अभिधम्मत्थ सगह ५.१९, विसुद्धिमग्ग १९.१६

पहले दे देता है। पहले के कर्म कैसे भी हों, परन्तु मरण काल के समय के कर्म के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। अभ्यस्त कर्म इन तीनों के अभाव में ही फल दे सकता है, ऐसा नियम है।[1]

बौद्धों ने पाककाल की दृष्टि से कर्म के जो चार भेद किए हैं, उनकी तुलना योगदर्शन सम्मत वैसे ही कर्मों से की जा सकती है। दृष्टजन्मवेदनीय जिसका विपाक विद्यमान जन्म में मिल जाता है। उपपज्ज-वेदनीय—जिसका फल नवीन जन्म में प्राप्त होता है। जिस कर्म का विपाक न हो, उसे अहोकर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनेक भावों में मिले, उसे अपरापरवेदनीय कहते हैं।[2]

बौद्धों ने पाकस्थान की अपेक्षा से कर्म के ये चार भेद किए हैं—अकुशल का विपाक नरक में, कामावचर कुशल कर्म का विपाक काम सुगति में, रूपावचर कुशल कर्म का विपाक रूपिब्रह्म लोक में, तथा अरूपावचर कुशल कर्म का विपाक अरूपलोक में उपलब्ध होता है।[3]

कर्म की विविध अवस्थाएँ

यह लिखा जा चुका है कि कर्म का आत्मा से बंध होता है। किंतु बंध होने के बाद कर्म जिस रूप में बद्ध हुआ हो, उसी रूप में फल दे, ऐसा नियम नहीं है, इस विषय में अनेक अपवाद हैं। जैन शास्त्रों में कर्म की बंध आदि दस दशाओं का इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

१ बंध—आत्मा के साथ कर्म का संबंध होने पर उसके चार

---

[1] अभिधम्मत्थ संगह ५.१९; विसुद्धिमग्ग १९ १५

[2] विसुद्धिमग्ग १९ १४; अभिधम्मत्थ सगह ५. १९।

[3] अभिधम्मत्थ संगह ५. १९।

प्रकार हो जाते हैं—प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध। जब तक बंध न हो, तब तक कर्म की अन्य किसी भी अवस्था का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

२ सत्ता—बंध में आए हुए कर्म पुद्गल अपनी निर्जरा होने तक आत्मा से संबद्ध रहते हैं, इसे ही उसकी सत्ता कहते है। विपाक प्रदान करने के बाद कर्म की निर्जरा हो जाती है। प्रत्येक कर्म अबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही विपाक देता है। अर्थात् अमुक कर्म की सत्ता उसके अबाधाकाल तक होती है।

३ उद्वर्तन अथवा उत्कर्षण—आत्मा से बद्ध कर्मों के स्थिति और अनुभाग बंध का निश्चय बंध के समय विद्यमान कषाय की मात्रा के अनुसार होता है। किंतु कर्म के नवीन बंध के समय उस स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ा लेना उद्वर्तन कहलाता है।

४ अपवर्तन अथवा अपकर्षण—कर्म के नवीन बंध के समय प्रथम बद्ध कर्म की स्थिति और उसके अनुभाग को कम कर लेना अपवर्तन कहलाता है।

उद्वर्तन तथा अपवर्तन की मान्यता से सिद्ध होता कि कर्म की स्थिति और उसका भोग नियत नहीं हैं। उसमें परिवर्तन हो सकता है। किसी समय हमने बुरा काम किया, किंतु बाद में यदि अच्छा काम करें तो उस समव पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और उसके रस में कमी हो सकती है। इसी प्रकार सत् कार्य करके बांधे गए सत् कर्म की स्थिति को भी असत् कार्य द्वारा कम किया जा सकता है। अर्थात् संसार की वृद्धि हानि का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा विद्यमान अध्यवसाय पर विशेषतः निर्भर है।

५. संक्रमण—इस विषय में विशेषावश्यक में विस्तार पूर्वक[1]

---

[1] गाथा १९३८ से

वर्णन है। कर्म प्रकृति के पुद्गलों का परिणमन अन्य सजातीय प्रकृति में हो जाना संक्रमण कहलाता है। सामान्यतः उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण होता है, मूल प्रकृतियों में नहीं। इस नियम के अपवादों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ में है।

६. उदय—कर्म का अपना फल प्रदान करना उदय कहलाता है। कुछ कर्म केवल प्रदेशोदययुक्त होते हैं। उदय में आने पर उनके पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है। उनका कुछ भी फल नहीं होता। कुछ कर्मों का प्रदेशोदय के साथ २ विपाकोदय भी होता है। वे अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

७. उदीरणा—नियत काल से पहले कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत काल से पहले ही फलों को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियत काल से पूर्व ही बद्ध कर्मों का भोग किया जा सकता है। सामान्यतः जिस कर्म का उदय जारी हो, उसके सजतीय कर्म की ही उदीरणा संभव है।

८. उपशमन—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं परन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण की संभावना हो, उसे उपशमन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म ढकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाए जिससे वह उस अग्नि की तरह फल न दे सके। किन्तु जिस प्रकार अग्नि से आवरण के दूर हो जाने पर वह पुनः प्रज्वलित होने में समर्थ है, उसी प्रकार कर्म की इस अवस्था के समाप्त होने पर वह पुनः उदय में आकर फल देता है।

९ निधत्ति—कर्म की उस अवस्था को निधत्ति कहते हैं जिसमें

वह उदीरणा और संक्रमण में असमर्थ होता है। किंतु इस अवस्था में उद्वर्तन और अपवर्तन संभव हैं।

१० निकाचना—कर्म की वह अवस्था निकाचना कहलाती है जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण और उदीरणा संभव ही न हों। जिस रूप म इस कर्म का बंधन हुआ हो, उसी रूप में उसे अनिवार्य रूपेण भोगना ही पड़ता है।

अन्य ग्रंथों में कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन शब्दशः दृष्टिगोचर नहीं होता, किंतु इनमें से कुछ अवस्थाओं से मिलते जुलते विवरण अवश्य मिलते हैं।

[1]योगदर्शन सम्मत नियतविपाकी कर्म जैन सम्मत निकाचित कर्म के सदृश समझना चाहिए। उसकी आवापगमन प्रक्रिया जैन सम्मत संक्रमण है। योगदर्शन में अनियतविपाकी कुछ ऐसे भी कर्म हैं जो बिना फल दिए ही नष्ट हो जाते हैं। इनकी तुलना जैनों के प्रदेशोदय से हो सकती है। योगदर्शन में क्लेश की चार अवस्थाएँ मान्य हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदारा[2]। उपाध्याय यशोविजय जी ने उनकी तुलना जैन सम्मत मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम-क्षयोपशम, विरोधी प्रकृति के उदय से व्यवधान और उदय से क्रमशः[3] की है।

कर्मफल का संविभाग

अब इस विषय पर विचार करने का अवसर है कि एक व्यक्ति अपने किए हुए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं। वैदिकों में श्राद्धादि क्रिया का जो प्रचार है, उसे देखते

---

[1] योगदर्शन भाष्य २. १३।

[2] योगदर्शत २. ४।

[3] योगदर्शन (पं० सुखलाल जी) प्रस्तावना पृ० ५४.

हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि स्मार्त धर्मानुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। बौद्ध भी इस मान्यता से सहमत हैं। हिन्दुओं के समान बौद्ध भी प्रेतयोनि को मानते हैं। अर्थात् प्रेत के निमित्त जो दान पुण्यादि किया जाता है, प्रेत को उसका फल मिलता है। मनुष्य मर कर तिर्यंच, नरक अथवा देवयोनि में उत्पन्न हुआ हो तो उसके उद्देश्य से किए गए पुण्य कर्म का फल उसे नहीं मिलता, किंतु चार प्रकार के प्रेतों में केवल परदत्तोपजीवी प्रेतों को ही फल मिलता है। यदि जीव परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था में न हो तो पुण्यकर्म के करने वाले को ही उसका फल मिलता है, अन्य किसी को भी नहीं मिलता। पुनश्च कोई पाप कर्म करके यदि यह अभिलाषा करे कि उसका फल प्रेत को मिल जाए, तो ऐसा कभी नहीं होता। बौद्धों का सिद्धान्त है कि कुशल कर्म का ही संविभाग हो सकता है, अकुशल का नहीं। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि क्या कारण है कि कुशल का ही संविभाग हो सकता है, अकुशल का नहीं? आचार्य ने पहले तो यह उत्तर दिया कि आपको ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। फिर यह बताया कि पाप कर्म में प्रेत की अनुमति नहीं, अतः उसे उसका फल नहीं मिलता। इस उत्तर से भी राजा सन्तुष्ट न हुआ। तब नागसेन ने कहा कि अकुशल परिमित होता है अतः उसका संविभाग संभव नहीं किन्तु कुशल विपुल होता है अतः उसका संविभाग हो सकता है।[1] महायान बौद्ध बोधिसत्त्व का यह आदर्श मानते हैं कि वे सदा ऐसी कामना करते हैं कि उनके कुशल कर्म का फल विश्व के समस्त जीवों को प्राप्त हो। अतः महायान मत के प्रचार

---

[1] मिलिन्द प्रश्न ४. ८. ३०—३५, पृ० २८८; कथावत्थु ७. ६. ३. पृ० ३४८ प्रेतों की कथाओ के संग्रह के लिए पेतवत्थु तथा विमला चरण लाकृत Buddhist Conception of spirits देखें।

के बाद भारत के समस्त धर्मों में इस भावना को समर्थन प्राप्त हुआ कि कुशल कर्मों का फल समस्त जीवों को मिले।

किंतु जैनागम में इस विचार अथवा भावना को स्थान नहीं मिला। जैन धर्म में प्रेतयोनि नहीं मानी गई है, संभव है कि कर्मफल के असंविभाग की जैन मान्यता का यह भी एक आधार हो। जैन शास्त्रीय दृष्टि तो यही है कि जो जीव कर्म करे, उसे ही उसका फल भोगना पड़ता है।[1] कोई दूसरा उसमें भागीदार नहीं बन सकता। किंतु लौकिक दृष्टि का अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्र आदि ने यह भावना अवश्य व्यक्त की है कि मैंने जो कुशल कर्म किया हो तो उसका लाभ अन्य जीवों को भी मिले और वे सुखी हो।

---

[1] ससारमावन्न परस्स अट्ठा साहारण जं च करेइ कम्म।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले ण बधवा बधवय उवेति।। उत्तरा० ४.४
माया पिया णुसा भाता भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नाल ते मम ताणाय लुप्पतस्स सकम्मुणा ।। उत्तरा० ६. ३., उत्तरा० १४. १२; २०. २३—३७

३--परलोक विचार

परलोक का अर्थ है मृत्यु के बाद का लोक। मृत्यूपरान्त जीव की जो विविध गतियाँ होती हैं, उनमें देव, प्रेत, और नारक ये तीनों अप्रत्यक्ष हैं। अतः सामान्यतः परलोक की चर्चा में इन पर ही विशेष विचार किया जाएगा। वैदिकों, जैनों और बौद्धों की देव, प्रेत एवं नारकियों संबंधी कल्पनाओं का यहाँ उल्लेख किया जाएगा। और तिर्यंच योनियां तो सब को प्रत्यक्ष हैं, अतः इनके विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। भिन्न भिन्न परंपराओं में इस संबंध में जो वर्गीकरण किया गया है, वह भी ज्ञातव्य तो हैं, किन्तु यहाँ उसकी चर्चा अप्रासंगिक होने के कारण नहीं की गई।

कर्म और परलोक-विचार ये दोनों परस्पर इस प्रकार संबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की संभावना नहीं। जब तक कर्म का अर्थ केवल प्रत्यक्ष क्रिया ही किया जाता था, तब तक उसका फल भी प्रत्यक्ष ही समझा जाता था। किसी ने कपड़े सीने का कार्य किया और उसे उसके फलस्वरूप सिला हुआ कपड़ा मिल गया। किसी ने भोजन बनाने का काम किया और उसे रसोई तय्यार मिली। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि प्रत्यक्ष क्रिया का फल साक्षात् और तत्काल माना जाए। किंतु एक समय ऐसा आया कि मनुष्य ने देखा कि उसकी सभी क्रियाओं का फल साक्षात् नहीं मिलता और नहीं तत्काल प्राप्त होता है। किसान खेती करता है, परिश्रम भी करता है, किन्तु यदि ठीक समय पर

वर्षा न हो तो उसका सारा श्रम धूल में मिल जाता है। फिर यह भी देखा जाता है कि नैतिक नियमों का पालन करने पर भी संसार में व्यक्ति दुःखी रहता है और दूसरा दुराचारी होने पर भी सुखी। यदि सदाचार से सुख की प्राप्ति होती हो तो सदाचारी को सदाचार के फलस्वरूप सुख तथा दुराचारी को दुराचार का फल दुःख साक्षात् और तत्काल क्यों नहीं मिलता ? नवजात शिशु ने ऐसा क्या काम किया है कि वह जन्म लेते ही सुखी या दुःखी हो जाता है ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करते हुए जब मनुष्य ने कर्म के संबंध में गहन विचार किया तब इस कल्पना ने जन्म लिया कि कर्म केवल साक्षात् क्रिया नहीं अपितु अदृष्ट संस्कार रूप भी है। इसके साथ ही परलोक-चिन्ता संबद्ध हो गई। यह माना जाने लगा कि मनुष्य के सुख दुःख का आधार केवल उसकी प्रत्यक्ष क्रिया नहीं, परन्तु इसमें परलोक या पूर्वजन्म की क्रिया—जो संस्कार अथवा अदृष्टरूपेण उसकी आत्मा से बद्ध है—का भी एक महत्त्वपूर्ण भाग है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष सदाचार के अस्तित्व में भी मनुष्य पूर्वजन्म के दुराचार का फल दुःखरूपेण भोगता है और प्रत्यक्ष दुराचारी होने पर भी पूर्वजन्म के सदाचार का फल सुखरूपेण भोगता है। बालक पूर्वजन्म के संस्कार अथवा कर्म अपने साथ लेकर आता है, अतः इस जन्म में कोई कर्म न करने पर भी वह सुख-दुःख का भागी बनता है। इस कल्पना के बल पर प्राचीन काल से लेकर आज तक के धार्मिक गिने जाने वाले पुरुषों ने अपने सदाचार में निष्ठा और दुराचार की हेयता स्वीकार की है। उन्होंने मृत्यु के साथ जीवन का अन्त नहीं माना, किन्तु, जन्म जन्मान्तर की कल्पना कर इस आशा से सदाचार में निष्ठा स्थिर रखी है कि कृत कर्म का फल कभी तो मिलेगा ही, और उन्होंने परलोक के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की हैं।

वैदिक परंपरा में देवलोक और देवों की कल्पना प्राचीन है। किन्तु वेदों में इस कल्पना को बहुत समय बाद स्थान मिला कि देवलोक मनुष्य की मृत्यु के बाद का परलोक है। नरक और नारकों संबंधी कल्पना तो वेद में सर्वथा अस्पष्ट है। विद्वानों ने यह बात स्वीकार की है कि वैदिकों ने परलोक एवं पुनर्जन्म की जो कल्पना की है, उसका कारण वेद-बाह्य प्रभाव[१] है।

जैनों ने जिस प्रकार कर्म विद्या को एक शास्त्र का रूप दिया, उसी प्रकार इस विद्या से अविच्छिन्न रूपेण संबद्ध परलोक विद्या को भी शास्त्र का ही रूप प्रदान किया। यही कारण है कि जैनों की देव एवं नारक संबंधी कल्पना में व्यवस्था और एकसूत्रता है। आगम से लेकर आज तक के रचित जैन साहित्य में देवों और नारकों के वर्णन विषयक महत्त्वहीन अपवादों की उपेक्षा करने पर मालूम होगा कि उसमें लेशमात्र भी विवाद दृग्गोचर नहीं होता। बौद्ध साहित्य के पढ़ने वाले पग पग पर यह अनुभव करते हैं कि बौद्धों में यह विद्या बाहर से आई है। बौद्धों के प्राचीन सूत्र ग्रंथों में देवों अथवा नरोंक की संख्या में एकरूपता नहीं है। यही नहीं देवों के अनेक प्रकार के नामों में वर्गीकरण तथा व्यवस्था का भी अभाव है। परन्तु अभिधम्म काल में बौद्धधर्म में देवों और नरकों की सुव्यवस्था हुई थी। यह बात भी स्पष्ट है कि प्रेतयोनि जैसी योनि की कल्पना बौद्ध धर्म अथवा सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं, फिर भी लौकिक व्यवहार के कारण उसे मान्यता प्राप्त[२] हुई।

---

[१] Ranade & Belvelkar–Creative Period p. 375.

[२] Dr. Law: Heaven & Hell (Introduction); Buddhist Conception of Spirits.

वैदिक देव और देवियां[1]

वेदों में वर्णित अधिकतर देवों की कल्पना प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर की गई है। प्रारंभ में अग्नि जैसे प्राकृतिक पदार्थों को ही देव माना गया था। किन्तु धीरे धीरे अग्नि आदि तत्त्व से पृथक् अग्नि आदि देवों की कल्पना की गई। कुछ ऐसे भी देव हैं जिनका प्रकृतिगत किसी वस्तु से सरलतापूर्वक संबंध नहीं जोडा जा सकता जैसे वरुण आदि। कुछ देवताओं का संबंध क्रिया से है—जैसे कि त्वष्टा, धाता, विधाता आदि। देवों के विशेषण रूप में जो शब्द लिखे गए, उनके आधार पर उन नामों के स्वतंत्र देवों की भी कल्पना की गई। विश्वकर्मा इन्द्र का विशेषण था, किंतु इस नाम का स्वतंत्र देव भी माना गया। यही बात प्रजापति के विषय में हुई। इसके अतिरिक्त मनुष्य के भावों पर देवत्व का आरोप करके भी कुछ देवों की कल्पना की गई है जैसे कि मन्यु, श्रद्धा आदि। इस लोक के कुछ मनुष्य, पशु और जड़ पदार्थ भी देव माने गए हैं—जैसे कि मनुष्यों में प्राचीन ऋषियों में से मनु, अथर्वा, दध्यंच, अत्रि, कण्व, कत्स और काव्य उपना। पशुओं में दधिक्रा सदृश घोड़े में दैवी भाव माना गया है। जड़ पदार्थों में पर्वत, नदी जैसे पदार्थों को देव कहा गया है।

देवों की पत्नियों की भी कल्पना की गई है—जैसे कि इन्द्राणी आदि। कुछ स्वतंत्र देवीयां भी मानी गई हैं– जैसे कि उषा, पृथ्वी, सरस्वती, रात्री, वाक्, अदिति आदि।

वेदों में इस विषय में ऐकमत्य नहीं कि भिन्न भिन्न देव अनादि

---

[1] इस प्रकरण को लिखने मे डा० देशमुख की पुस्तक Religion in Vedic Literature के अध्याय ९–१३ से सहायता ली गई है। मै उनका आभार मानता हूँ।

काल से हैं या वे किसी समय उत्पन्न हुए हैं। प्राचीन कल्पना यह थी कि वे द्यु और पृथ्वी की संतान हैं। उषा को देवों की माता[1] कहा गया है, किंतु वह बाद में स्वयं द्यु की पुत्री मानी[2] गई। अदिति और दक्ष को भी देवताओं के माता पिता माना गया[3] है। अन्यत्र सोम को अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, द्यु और पृथ्वी का जनक कहा गया है। कई देवताओं के परस्पर पिता पुत्र के संबंध का भी वर्णन है। इस प्रकार ऋग्वेद में देवताओं की उत्पत्ति के संबंध में एक निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। सामान्यतः सभी देवों के विषय में ये उल्लेख मिलते हैं कि वे कभी उत्पन्न हुए हैं, अतः हम कह सकते हैं कि वे न तो अनादि हैं और न स्वतः सिद्ध।

ऋग्वेद में वार वार उल्लेख किया गया है कि देवता अमर हैं, परन्तु सभी देवता अमर हैं अथवा अमरता उनका स्वाभाविक धर्म है, यह वात स्वीकार नहीं की गई। वहां यह कथन उपलब्ध होता है कि सोमका पान कर देवता अमर बनते हैं। यह भी कहा गया है कि अग्नि और सविता देवताओं को अमरत्व अर्पित करते हैं।

एक ओर देवताओं की उत्पत्ति में पूर्वापर[4] भाव का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर यह लिखा है कि देवों में कोई वालक अथवा कुमार नहीं, सभी समान[5] हैं। यदि शक्ति की दृष्टि से विचार किया जाए तो देवों में दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य

---

[1] ऋग्वेद १. ११३. १९.

[2] ऋग्वेद १ ३०. २२.

[3] ऋग्वेद २ २६. ३

[4] ऋग्वेद १०. १०९. ४; ७. २१. ७.

[5] ऋग्वेद ८. ३०. १.

की कोई सीमा नही। किन्तु एक बात की सभी में समानता है और वह है उनकी परोपकार वृत्ति। मगर यह वृत्ति आर्यों के लिए ही स्वीकार की गई है, दास या दस्युओं के विषय में नहीं। देवता यज्ञ करने वाले को सभी प्रकार की भौतिक संपत्ति देने में समर्थ हैं, वे समस्त विश्व के नियामक हैं और अच्छे व बुरे कामों पर दृष्टि रखने वाले हैं। किसी भी मनुष्य में यह शक्ति नहीं कि वह देवताओं की आज्ञा का उल्लंघन कर सके। जब उनके नाम से यज्ञ किया जाता है, तब वे द्युलोक से रथ पर चढ़ कर चलते हैं और यज्ञ भूमि में आकर बैठते हैं। अधिकांश देवों का निवास स्थान द्युलोक है और वे वहां सामान्यतः मिल जुल कर रहते हैं। वे सोमरस पीते हैं और मनुष्यों जैसा आहार करते हैं। जो यज्ञ करते हैं, वे उनकी सहानुभूति प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करते, वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते हैं। देवता नीति संपन्न हैं, सत्यशील हैं, वे धोका नहीं देते। वे प्रमाणिक और चरित्रवान् मनुष्यों की रक्षा करते हैं। उदार और पुण्य शील व्यक्ति और उनके कृत्यों का बदला चुकाते हैं और पापी को दंड देते हैं। देव जिस व्यक्ति के मित्र बन जाएं, उसे कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता। देवता अपने भक्तों के शत्रुओं का नाश कर उनकी संपत्ति अपने भक्तों को सौंप देते है। सभी देवों में सौन्दर्य, तेज और शक्ति है। सामान्यतः देव स्वयं ही अपने अधिपति हैं अर्थात् वे अहमिन्द्र हैं।

यद्यपि ऋषियों ने देवों के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लेते हुए वर्णित देव को सर्वाधिपति कहा है, तथापि सामान्यतः उसका अर्थ यह नहीं कि वह देव, राजा के समान अन्य देवों का अधिपति है। ऋषियों ने जिस देव की स्तुति की है, वह उसे प्रसन्न करने के लिए है। अतः यह स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणों का वर्णन किया जाए। अतः प्रत्येक देव में सर्वसामर्थ्य

स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वाद में यज्ञ के लिए सब देवों की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई और अन्त में 'एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति'[1] विद्वान् एक ही तत्त्व का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता रूढ़ हो गई। फिर भी यज्ञप्रसंग में व्यक्तिगत देवों के प्रति निष्ठा कभी भी कम नहीं हुई। भिन्न भिन्न देवों के नाम से यज्ञ होते रहे। इस लिए हमें यह बात माननी पड़ती है कि ऋग्वेद काल में किसी एक ही देव का अन्य देवों की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं था। अतः ऋग्वेदकाल में एक देव के स्थान पर दूसरे देव को प्रतिष्ठित कर देने की कल्पना करना असंगत है।[2]

सभी देव द्युलोक निवासी नहीं हैं। वैदिकों ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं, उनमें उनका निवास है। द्युलोक वासी देवों में द्यौ, वरुण, सूर्य, मित्र, विष्णु, दक्ष, अश्विन आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देव ये हैं—इन्द्र, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, आपः आदि। पृथ्वी पर अग्नि, सोम, बृहस्पति आदि देवों का निवास है।

वैदिक स्वर्ग-नरक

इस लोक में जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं, वे मर कर स्वर्ग में यमलोक पहुंचते हैं। यह यमलोक प्रकाश पुंज से व्याप्त है। वहां उन लोगों को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा में मिलता है और उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[3] कुछ व्यक्ति विष्णु[4] अथवा

---

[1] ऋग्वेद १. १६४. ४६.

[2] देशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ३१७–३२२ का सार।

[3] ऋग्वेद ९. ११३. ७ से।

[4] ऋग्वेद १. १५४.

वरुणलोक[1] में जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग[2] है। वरुण लोक में जाने वाले मनुष्य की सभी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं और वह वहां देवों के साथ मधु, सोम अथवा घृत का पान करता[3] है। वहां रहते हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्धतर्पण में अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं। यदि उसने स्वयं इष्टापूर्त (वावड़ी, कुआँ, तालाव आदि जलस्थान का निर्माण) किया हो, तो उसका फल भी स्वर्ग में मिल जाता है।[4]

वैदिक आर्य आशावादी, उत्साही और आनन्दप्रिय लोग थे। उन्हों ने जिस प्रकार के स्वर्ग की कल्पना की है, वह उनकी विचार-धारा के अनुकूल ही है। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन ऋग्वेद में पापी आदमियों के लिए नरक जैसे स्थान की कल्पना नहीं की। दास तथा दस्यु जैसे लोगों को आर्य लोग अपना शत्रु समझते थे, उनके लिए भी उन्होंने नरक की कल्पना नहीं की। किंतु देवों से यह प्रार्थना की है कि वे उनका सर्वथा नाश कर दें। मृत्यु के वाद उनकी क्या दशा होती है, इस विषय में उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया।

जो पुण्यशाली व्यक्ति, मर कर स्वर्ग में जाते हैं, वे सदा के लिए वहीं रहते हैं। वैदिक काल में यह कल्पना नहीं की गई थी कि पुण्य का क्षय होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में वापिस आ जाते हैं। हां, ब्राह्मण काल में इस मान्यता का अस्तित्व था[5]।

---

[1] ऋग्वेद ७. ८८. ५।

[2] ऋग्वेद १०. १.४ ८; १०. १५. ७।

[3] ऋग्वेद १०. १५४. १।

[4] Creative Period p. 26.

[5] Creative Period P. 27, 76.

उपनिषदों के देवलोक

बृहदारण्यक में आनन्द की तरतमता का वर्णन है। उसके आधार पर मनुष्य लोक से ऊपर के लोक के विषय में विचार किया जा सकता है। उसमें कहा गया है कि स्वस्थ होना, धनवान् होना, दूसरों की अपेक्षा उच्चपद प्राप्त करना, अधिक से अधिक सांसारिक वैभव होना ये ऐसे आनन्द हैं जो इस संसार में मनुष्य के लिए महान् से महान् हैं। पितृलोक में जाने वाले पितरों को इस संसार के आनन्द की अपेक्षा सौगुना अधिक आनन्द मिलता है। गंधर्व लोक में उससे भी सौगुना अधिक आनन्द है। पुण्य कर्म द्वारा देवता बने हुए लोगों का आनन्द गंधर्वलोक से सौगुना ज्यादा है। सृष्टि की आदि में जन्म लेने वाले देवों का आनन्द इन देवों की अपेक्षा सौगुना अधिक है। प्रजापति लोक में इस आनन्द से भी सौगुना और ब्रह्मलोक में उससे भी सौगुना आनन्द होता है। ब्रह्मलोक का आनन्द सर्वाधिक है—बृहदा० ४ ३. ३३।

देवयान-पितृयान

ऋग्वेद[1] में इन दोनों शब्दों का प्रयोग है परन्तु इन मार्गों का वर्णन वहां उपलब्ध नहीं होता। उपनिषदों में दोनों मार्गों का विशद विवरण है।[2] किंतु हम उसके विस्तार में न जाकर विद्वानों द्वारा मान्य उचित वर्णन का यहां उल्लेख करेंगे। कौपीतकी उपनिषद् में देवयान का वर्णन इस प्रकार है—मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से जाने वाला व्यक्ति क्रमशः अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापति लोक से होकर ब्रह्मलोक में

---

[1] ऋग्वेद १०. १९. १ तथा १०. २. ७

[2] बृहदा० ५. १०. १; छान्दोग्य ४.१५. ५-६; ५. १०. १-६; कौषीतकी १. २-४.

जाता है। वहां वह मनके द्वारा आर नामक सरोवर को पार करता है और येष्टिहा (उपासना में विघ्न डालने वाले) देवों के पास पहुंचता है। वे देव उसे देखते ही भाग जाते हैं। तत्पश्चात् वह मनके द्वारा ही विरजा नदी पार करता है। यहां वह पुण्य और पाप को छोड़ देता है। उसके बाद वह इल्य नामक वृक्ष के निकट जाता है और वहां उसे ब्रह्म की गंध आती है। फिर वह सालज्य नगर के पास पहुंचता है। वहां उसमें ब्रह्मतेज प्रविष्ट होता। तदनन्तर वह इन्द्र और बृहस्पति नामक चौकीदारों के पास आता है। वे भी उसे देख कर भग जाते हैं। वहां से चल कर विभुनामक सभा स्थान में आता है। यहां उसकी कीर्त्ति इतनी बढ़ जाती है जितनी कि ब्रह्मा की। फिर वह विचक्षणा नाम के ज्ञानरूप सिंहासन के समीप आता है। और अपनी बुद्धि द्वारा समस्त विश्व को देखता है। अन्त में वह अमितौजा नामक ब्रह्म के पलंग के निकट आता है। जब, वह उस पलंग पर आरूढ होता है, तब वहां आसीन ब्रह्मा उससे पूछता है, "तुम कौन हो?" वह उत्तर देता है, "जो आप हैं, वही मै हूँ।" ब्रह्मा पुनः पूछता है, 'मै कौन हूँ?" वह व्यक्ति उत्तर देता है, 'आप सत्य स्वरूप हैं'। इस प्रकार अन्य अनेक प्रश्न पूछ कर जब ब्रह्मा की पूर्णतः तुष्टि हो जाती है, तब वह उसे अपने समान समझता[१] है।

इसी उपनिषद् में पितृयान के वर्णन का सार यह है—चन्द्रलोक ही पितृलोक है। सभी मरने वाले यहां पहुंचते हैं। किन्तु जिनकी इच्छा पितृलोक में निवास करने की न हो, उन्हें चन्द्र ऊपर के लोक में भेज देता है और जिनकी अभिलाषा चन्द्रलोक की हो, उन्हें चन्द्र वर्षा के रूपमें इस पृथ्वी पर जन्म

[१] कौषीतकी प्रथम अध्याय देखे।

लेने के लिए भेज देता है। ऐसे जीव अपने कर्मों और ज्ञान के अनुसार कीट, पतंग, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, मछली, रीछ, मनुष्य अथवा अन्य किसी रूप में भिन्न भिन्न स्थानों में जन्म लेते है। इस प्रकार पितृयान के मार्ग में जाने वालों को पुनः इस लोक में आना पड़ता[1] है।

सारांश यह है कि ब्रह्मीभाव को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उसे देवयान कहते हैं, किंतु अपने कर्मों के अनुसार जिनकी मृत्यु पुनः होने वाली है वे चन्द्रलोक में जाकर लौट आते हैं। उनके मार्ग का नाम पितृयान है और उनकी योनी प्रेतयोनी कहलाती है।

इस उपर्युक्त वर्णन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि विशेषावश्यक ग्रन्थ में परलोक के सादृश्य-वैसदृश्य के संबंध में जो चर्चा है, उसके विषय में उपनिषदों का क्या मत है। यह भी पता लगता है कि उपनिषद् के अनुसार जीव कर्मानुसार विसदृश अवस्था को प्राप्त होते हैं। यही मत जैनों का भी है।

पौराणिक देवलोक

यह बात लिखी जा चुकी है कि वैदिक मान्यतानुसार तीनों लोक में देवों का निवास है। पौराणिक काल में भी इसी मत का समर्थन किया गया। योगदर्शन के व्यासभाष्य[2] में बताया गया है कि पाताल, जलधि--समुद्र तथा पर्वतों में असुर, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरस्, ब्रह्मराक्षस, कुष्मांड, विनायक नाम के देवनिकाय

---

[1] कौषीतकी १.२.

[2] विभूतिपाद २६.

निवास करते हैं। भूलोक के समस्त द्वीपों में भी पुण्यात्मा देवों का निवास है। सुमेरु पर्वत पर देवों की उद्यान भूमियां हैं, सुधर्मा नामक देव सभा है, सुदर्शननामा नगरी है और उसमें वैजयन्त प्रासाद है। अन्तरिक्षलोक के देवों में ग्रह, नक्षत्र और तारों का समावेश है। स्वर्गलोक में महेन्द्र में छे देव निकायों का निवास है—त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्या, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मितवशवर्ती। इससे ऊपर महत्तिलोक अथवा प्रजापतिलोक में पाँच देव निकाय हैं—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अंजनाभ, प्रचिताभ। ब्रह्मा के प्रथम जनलोक में चार देवनिकाय हैं—ब्रह्म-पुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक, अमर। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में तीन देव निकाय हैं—आभास्वर, महाभास्वर, सत्य-महाभास्वर। ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में चार देवनिकाय हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी।

इन सब देवलोकों में बसने वालों की आयु दीर्घ होते हुए भी परिमित है। कर्मक्षय होने पर उन्हें नया जन्म धारण करना पड़ता है।

वैदिक असुरादि

सामान्यतः देवों और मनुष्यों के शत्रुओं को वेद में असुर, राक्षस, पिशाच आदि नाम से प्रतिपादित किया गया है। पणि और वृत्र इन्द्र के शत्रु थे, दास और दस्यु आर्य प्रजा के शत्रु थे। किंतु दस्यु शब्द का प्रयोग अन्तरीक्ष के दैत्यों अथवा असुरों के अर्थ में भी किया गया है। दस्युओं को वृत्र के नाम से भी वर्णित किया गया है। सारांश यह है कि वृत्र, पणि, असुर, दस्यु, दास नाम की कई जातियां थीं। उन्हें ही कालान्तर में राक्षस, दैत्य, असुर पिशाच का रूप दिया गया। वैदिक काल के लोग उनके नाश के निमित्त देवों से प्रार्थना किया करते थे।

उपनिषदों में नरक का वर्णन

यह बात पहले कही जा चुकी है कि ऋग्वेद काल के आर्यों ने पापी पुरुषों के लिए नरक स्थल की कल्पना नहीं की थी, किंतु उपनिषदों में यह कल्पना विद्यमान है। नरक कहां है, इस विषय में उपनिषद् मौन हैं। किन्तु उपनिषदों के अनुसार नरक लोक अंधकार से आवृत हैं, उनमें आनन्द का नाम भी नहीं है। इस संसार में अविद्या के उपासक नरक को प्राप्त होते हैं। आत्मघाती पुरुषों के लिए भी यही स्थान है और अविद्वान् की भी मृत्यूपरांत यही दशा है। बूढ़ी गाय का दान देने वालों की भी यही गति होती है। यही कारण है कि नचिकेता जैसे पुत्र को अपने उस पिता के भविष्य के विचार ने अत्यंत दुःखी किया जो बूढ़ी गायों का दान कर रहा था। उसने सोचा कि मेरे पिता इनके बदले मुझे ही दान में क्यों नहीं दे देते[1]।

उपनिषदों में इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि ऐसे अंधकारमय लोक में जाने वाले जीव सदा के लिए वहीं रहते हैं अथवा वहां से उनका छुटकारा भी हो जाता है।

पौराणिक नरक

नरक के विषय में पुराण कालीन वैदिक परंपरा में कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। बौद्ध और जैनमत के साथ उनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह विचारणा तीनों परंपराओं में समान ही थी।

योगदर्शन व्यास भाष्य में सात नरकों के ये नाम बताए गए हैं—महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र, अवीचि। इन नरकों में जीवों को अपने अपने किए हुए कर्मों के

---

[1] कठ १.१.३; बृहदा० ४.४.१०—११; ईश ३.९.

कटु फल मिलते हैं और वहां जीवों की आयु भी लम्बी[1] होती है। दीर्घ काल तक कर्म का फल भोगने के बाद ही वहां से जीव का छुटकारा होता है। ये नरक हमारी भूमि और पाताल लोक के नीचे अवस्थित हैं।[2]

भाष्य की टीका में नरकों के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि उपनरकों की कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। वाचस्पति ने इनकी संख्या अनेक बताई है किंतु भाष्यवार्तिककार ने इसे अनन्त कहा है।

भागवत में नरकों की संख्या सात के स्थान पर २८ बताई है और उनमें प्रथम २१ के नाम ये हैं—तामिस्र, अंधतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुंभीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अंधकूप, कृमिभोजन, संदंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टक शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि तथा अयःपान[3]। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों के मतानुसार अन्य सात नरक भी हैं—क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दंदशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन, और सूचीमुख। इनमें अधिकतर नाम ऐसे हैं जिन से यह ज्ञात हो जाता है कि उन नरकों में जीवों को किस प्रकार के कष्ट हैं।

बौद्धसम्मत परलोक

हम यह कह सकते है कि भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को इसी लोक मे फल देने वाला माना था और उनके उपलब्ध प्राचीन

---

[1] योगदर्शनव्यास भाष्य, विभूतिपाद २६.

[2] भाष्यवार्तिककार ने कहा है कि पाताल अवीचि नरक के नीचे है, किंतु यह भ्रम प्रतीत होता है।

[3] श्रीमद्भागवत (छायानुवाद) पृ० १६४, पंचमस्कंध २६ ५—३६.

उपदेश में स्वर्ग, नरक अथवा प्रेतयोनि संबंधी विचारों का स्थान ही नहीं है। यदि कभी कोई जिज्ञासु ब्रह्मलोक जैसे परोक्ष विषय के संबंध में प्रश्न करता, भगवान् बुद्ध सामान्यतः उसे समझाते कि परोक्ष पदार्थों के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिए[1]। वे प्रत्यक्ष दुःख, उसके कारण और दुःख निवारक मार्ग का उपदेश करते। परन्तु जैसे जैसे उनके उपदेश एक धर्म और दर्शन के रूप में परिणत हुए, वैसे वैसे आचार्यों को स्वर्ग नरक, प्रेत आदि समस्त परोक्ष पदार्थों का भी विचार करना पड़ा और उन्हें बौद्ध धर्म में स्थान देना पड़ा। बौद्ध पंडितों ने कथाओं की रचना में जो कौशल दिखाया है, वह अनुपम है। उनका लक्ष्य सदाचार और नीति की शिक्षा प्रदान करना था। उन्होंने अनुभव किया कि स्वर्ग के सुखों और नरक के दुःखों के कलात्मक वर्णन के समान अन्य कोई ऐसा साधन नहीं जो सदाचार में निष्ठा उत्पन्न कर सके। अतः उन्होंने इस ध्येय को सन्मुख रखते हुए कथाओं की रचना की। उन्हें इस विषय में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस आधार पर धीरे धीरे बौद्ध दर्शन में भी स्वर्ग, नरक, प्रेत संबंधी विचार व्यवस्थित होने लगे। निदान अभिधम्भ काल में हीनयान संप्रदाय में उनका रूप स्थिर हो गया। किंतु महायान संप्रदाय में उनकी व्यवस्था कुछ भिन्न रूप से हुई।

बौद्ध अभिधम्म[2] में सत्त्वों का विभाजन इन तीन भूमियों में किया गया है—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर। उनमें नारक, तिर्यंच, प्रेत, असुर ये चार कामावचर भूमियां अपाय भूमि हैं—अर्थात् उनमें दुःख की प्रधानता है। मनुष्यों तथा चातुम्महा-

---

[1] दीघनिकाय के तेविज्जसुत्त में ब्रह्मसालोकता विषयक भगवान् बुद्ध का कथन देखें।

[2] अभिधम्मत्थ संगह परि. ५.

राजिक, तावतिंस, याम, तुसित, निम्मानरति, परनिम्मितवसवत्ति नाम के देवनिकायों का समावेश काम-सुगति नाम की कामावचर भूमि में है। उनमें कामभोग की प्राप्ति होती है, अतः चित्त चंचल रहता है।

रूपावचर-भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुख वाले १६ देवनिकायों का समावेश है जिसका विवरण इस प्रकार है:—

प्रथम ध्यानभूमि में—१ ब्रह्मपारिसज्ज, २ ब्रह्मपुरोहित, ३ महाब्रह्म

द्वितीय ध्यानभूमि में—४ परित्ताभ, ५ अप्पमाणाभ, ६ आभस्सर

तृतीय ध्यानभूमि में—७ परित्तसुभा, ८ अप्पमाणसुभा, ९ सुभकिण्हा

चतुर्थ ध्यानभूमि में—१० वेहप्फला, ११ असञ्ञसत्ता, १२-१६ पांच प्रकार के सुद्धावास

सुद्धावास के ये पांच भेद हैं—१२ अविहा, १३ अतप्पा, १४ सुदस्सा, १५ सुदस्सी, १६ अकनिट्ठा।

अरूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुखवाली चार भूमि हैं—

१—आकासानंचायतन भूमि

२—विञ्ञाणञ्चायतन भूमि

३—अकिंचञ्ञायतन भूमि

४—नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमि

अभिधम्मत्थसंगह में नरकों की संख्या नहीं बताई गई है किंतु मज्झिमनिकाय में उन विविध कष्टों का वर्णन है जो नारकों को भोगने पड़ते हैं। (बालपंडितसुत्तंत-१२९ देखें)

जातक (५३०) में ये आठ नरक बताए गए हैं—संजीव, कालसुत्त, संघात, जालरोरुव, धूम रोरुव, तपन, प्रतापन, अवीचि।

महावस्तु (१. ४) में उक्त प्रत्येक नरक के १६ उस्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं। इस तरह सब मिल कर १२८ नरक हो जाते हैं। किंतु पंचगतिदीपनी नामक ग्रंथ में प्रत्येक नरक के चार उस्सद बताए हैं—माल्हकूप, कुक्कुल, असिपत्तवन, नदी[१] (वैतरणी)।

बौद्धों ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है। इन प्रेतों की रोचक कथाएँ प्रेतवत्थु नाम के ग्रंथ में दी गई हैं। सामान्यतः प्रेत किसी विशेष प्रकार के दुष्कर्मों को भोगने के लिए उस योनि में उत्पन्न होते हैं। इन दोषों में इस प्रकार के दोष भी हैं—दान देने में ढील करना, योग्यरीति से श्रद्धापूर्वक न देना। दीघनिकाय के आटानाटियसुत्त में निम्नलिखित विशेषणों द्वारा प्रेतों का वर्णन किया गया है—चुगलख़ोर, ख़ूनी, लुब्ध, चोर, दग़ाबाज़ आदि। अर्थात् ऐसे लोग प्रेतयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं। पेतवत्थु ग्रंथ से भी इस बात का समर्थन होता है।

पेतवत्थु के आरंभ में ही यह बात कही गई है कि दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने संबंधियों के भव का भी उद्धार करता है।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खड़े रहते हैं, चौक में अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खड़े हो जाते हैं। जहां बड़े भोज की व्यवस्था हो, वहां वे विशेष रूप से पहुंचते हैं। लोग उनका स्मरण कर उन्हें कुछ नहीं देते, तो वे दुःखी होते हैं। जो उन्हें याद कर उन्हें देते हैं, वे उनके आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। प्रेत लोक में व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नहीं है जिससे उन्हें भोजन मिल सके। उनके निमित्त इस लोक में

---

[१] ERE—Cosmogomy & Cosmalogy—शब्द देखें। महायानमान्य वर्णन अभिधर्मकोष चतुर्थ स्थान मे देखें।

जो कुछ दिया जाता है, उसी के आधार पर इनका जीवन निर्वाह होता है। इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु[1] में उपलब्ध होते हैं।

लोकान्तरिक नरक में भी प्रेतों का निवास है। वहां के प्रेत छे कोस ऊंचे हैं। मनुष्य लोक मे निज्झामतण्ह जाति के प्रेत रहते हैं। इनके शरीर में सदा आग जलती है। वे सदा भ्रमणशील होते हैं। इनके अतिरिक्त पालि ग्रंथों में खुप्पिपास, कालंकजक, उतूपजीवी नाम की प्रेत जातियों का भी उल्लेख[2] है।

जैन सम्मत परलोक

जैनों ने समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया है, मनुष्य, तिर्यंच, नारक तथा देव। मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में भ्रमण करता है। जैन सम्मत देव तथा नरक लोक के विषय में ज्ञातव्य बातें ये हैं—

जैनमत में देवों के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, तथा वैमानिक। भवनपति निकाय के देवों का निवास जंबूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा में है। व्यंतर निकाय के देव तीनों लोकों में रहते हैं। ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमि भाग से सात सौ नव्वे योजन की ऊंचाई से शुरू होने वाले ज्योतिश्चक्र में हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहां से लेकर एक सौ दस योजन पर्यन्त तक है। इस चक्र से भी ऊपर असंख्यात योजन की ऊंचाई पर अनुक्रम उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

भवनवासी निकाय के देवों के दस भेद हैं—असुर कुमार,

---

[1] पेतवत्थु १.५.

[2] Buddhist Conception of Spirits p. 42

नाग कुमार, विद्युत् कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वात कुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार और दिक् कुमार।

व्यंतरनिकाय के देवों के आठ प्रकार हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच।

ज्योतिष्क देवों के पांच प्रकार हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णतारा।

वैमानिक देवनिकाय के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न, कल्पातीत। कल्पोपपन्न के १२ भेद हैं—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत। एक मत १६ भेद[1] स्वीकार करता है।

कल्पातीत वैमानिकों में नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमानों का समावेश है। नव ग्रैवेयक के नाम ये हैं—सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रियंकर, आदित्य।

पांच अनुत्तर विमानों के नाम ये हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध।

इन सब देवों की स्थिति, भोग, संपत्ति आदि के संबंध में विस्तृत वर्णन जिज्ञासुओं को तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय तथा बृहत्संग्रहणी आदि ग्रंथों में देख लेना चाहिए।

जैन मत में सात नरक माने हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका-प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा।

ये सातों नरक उत्तरोत्तर नीचे नीचे हैं और विस्तार में भी अधिक हैं। उनमें दुःख ही दुःख है। नारक परस्पर तो दुःख उत्पन्न करते ही हैं। इसके अतिरिक्त संक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियों में दुःख देते हैं। नरक का विशद वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में है। जिज्ञासु वहां देख सकते हैं।

———

[1] ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार—ये चार नाम अधिक हैं।